हिन्दूधर्म ही
एकमात्र धर्म क्यों ?

शास्त्र धर्म प्रचार सभा

९१, चौरंगी रोड, कलकत्ता-२०

१०९, अलोपीबाग, इलाहाबाद-६

आवश्यक निवेदन

आजकल सनातन हिन्दू धर्म पर चारों ओर से आक्षेप हो रहे हैं। विदेशी शिक्षा के प्रभाव से साधारण स्कूल कालेजों से लेकर विश्वविद्यालयों तक में सनातन हिन्दू धर्म की शिक्षा की व्यवस्था न होने के कारण भारतीय युवकों के हृदयों में धर्म भावना का प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है। संवाद पत्रों तथा सभामंचों से भी अधिकतर धर्म के विकृत रूप को ही प्रकट किया जा रहा है। कुछ थोड़ी ही पत्र पत्रिकायें और धर्मसभायें सत्य सनातन धर्म के प्रचार में अनुरक्त हैं। ऐसी अवस्था में वेदान्तबाचस्पति व्याकरणरत्न एम० ए० उपाधिधारी श्रीमान् नारायणकृष्ण सेनगुप्त महाशय ने अद्वैत परीक्षणम् ग्रन्थ, तथा डा. गोपाल नारायण सेनगुप्त महाशय ने "हिन्दू धर्म ही एकमात्र धर्म क्यों?" इस पुस्तक को लिखकर भारतीय समाज का असीम उपकार किया है। इस छोटी सी पुस्तिका में सनातन हिन्दू धर्म की महती विशेषताओं पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है। कर्मफल, पुनर्जन्म, अधिकार भेद, भगवद्भक्ति आदि एक-से-एक महत्वपूर्ण विषय इस में दिये गये हैं जिनके अध्ययन से जगत के अन्य ज्ञान, बहुत-सी शंकाओं, का समाधान और स्वधर्म पर दृढ़ अभिमान हो जाता है। मेरा प्रत्येक भारतीय युवक से अनुरोध है कि वह इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें। पुस्तक हिन्दी अंग्रेजी, बंगला तीनों भाषाओं में छपी है और बिना मूल्य ही दी जाती है, यह सोने में सुगन्ध है। ऐसी परमोपयोगी पुस्तक के लेखक सेन महाशय का तथा इसके पाठकर्ताओं का श्रीभगवान सब प्रकार से मंगल विधान करें यही मेरा आवश्यक निवेदन है।

श्रीनिवास विद्यामन्दिर — आचार्य श्रीस्वामी गोपालदत्तशास्त्री

आरा

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी सं० २००७ — काव्यपुराण वेदान्ततीर्थ

विषय सूची

१. हिन्दू धर्म का माहात्म्य १

२. माया का स्वरूप १०

३. संसार से तरने का उपाय १६

४. जीव और ब्रह्म २८

५. कर्म फल ३६

श्रीश्रीगोपालकृष्णः शरणम्।

हिन्दूधर्म ही एकमात्र धर्म—क्यों?

(हिन्दूधर्म की ३२ विशेषताएँ जगत् के किसी धर्म में नही है।)

हिन्दुधर्म माहात्म्य-निर्णायकः प्रथम-परिच्छेदः

(१) **हिन्दूधर्म का माहात्म्य**—हिन्दूधर्म जगत् में एकमात्र धर्म है, यह बात सुनते ही मन में ऐसा लगता है कि यह केवल मोहान्ध (कट्टर) हिन्दू को ही बात, अहंकार की पराकाष्ठा और सत्यका अपलाप मात्र है। किन्तु अभी जो कहा जायेगा उससे स्पष्ट ही प्रतिपन्न होगा कि यह बात अक्षर-अक्षर सत्य है। हिन्दूधर्म का माहात्म्य कल्पनातीत है, हिन्दूधर्म चरम धर्म है, चरम सत्य है, चरम ज्ञान है, चरम दर्शन है और चरम विज्ञान (Science) है।

हिन्दूधर्मके सभी विचार, नूतन हैं, सभी सत्य हैं, सभी आमूल सिद्धान्त हैं। कुछ भी हवाके उपर तैयार नहीं किया गया है। कम-से-कम इसकी ३२ विशेषतायें हैं। ये (३२) बत्तीसों ही अभिनव हैं और अन्य किसी धर्म में ये नही हैं।

१. धर्म-धर्म क्या है? धर्म में क्या-क्या रहना चाहिए?
२. सत्य-सत्य ही भगवान् है। सत्य ही अपरिवर्तनीय है। परिवर्ता-परिवर्त्तम्।
३. प्रमाण-आप्त-वाक्य। मनुष्य कुछ भी नहीं जान सकता है।
४. जगत् भगवन्मूर्त्ति
५. माया-माया और माया का कारण। युगपद्विपरीतत्व। अस्ति नास्ति। मनुष्य-देह में माया का खेल। विज्ञान मे (Science) माया।
६. मोह।
७. अहंकार।
८. देहामिान-अभिमान।

९. संसार।
१०. मोक्ष।
११. देहान्त।
१२. संग। संग सर्वशक्तिमान्। साधुसेवा।
१३. स्त्रीसंग।
१४. आचार।
१५. स्पृष्टास्पृष्टि।
१६. एकाकार।
१७. जातिभेद।
१८. अचित्वत्परतन्त्र।
१९. विपरीतबुद्धि।
२०. विश्वास-नास्तिकता। अपने को अविश्वास।
२१. दीन-हीन।
२२. अकिंचन।
२३. भगवदिच्छानुसन्धान।
२४. पुरुषाकार-दैव और पुरुषकार का कारण, माया।
२५. निर्हेतुक कृपा।
२६. ब्रह्म-साकार व निराकार। ईश्वर।
२७. जीव।
२८. भेदाभेद।
२९. अधिकार-प्रत्येक मनुष्य का धर्म पृथक्। विधर्मीकरण। मिश्रकर्म।
३०. कर्मफल-संचित। प्रारब्ध। जन्म-मृत्यु।
३१. पुनर्जन्म।
३२. अशीति-लक्ष योनि। भोग देह। कर्म देह।

(२) धर्म क्या है? ध्रियते अनेनेति धर्मः। जो धारण (रक्षा) करे उसको ही धर्म कहते हैं। जिसके द्वारा वस्तु मात्र ही अपने स्वरूप में

अवस्थित होता है उसको ही उस वस्तु का धर्म कहते हैं, जैसे जल का धर्म तरलता, शीतलता, स्वच्छता इत्यादि। अग्नि का धर्म-दहन, ताप, आलोक इत्यादि। जिसके द्वारा मनुष्य, जीवन को सार्थक कर सकता है, जिसके द्वारा भगवत् प्राप्ति होती है, उसी को मनुष्य का धर्म कहा जाता है।

मनुष्य क्या है, उसका अन्य प्राणी के साथ सम्बन्ध क्या है, यह मनुष्य जीवन क्यों पाया है, वह कहाँ से आया है, कहाँ जायेगा, क्यों जायेगा, चिरकाल तक क्यों नहीं रहता है, आना जाना क्यों करता है, इत्यादि सम्पूर्ण बातों का उत्तर देने पर धर्म हो सकता है। केवल धर्म नाम देकर कुछ अनुष्ठान करने से धर्म नही होता है।

(३) **धर्म में क्या क्या रहना चाहिये**—संसार क्या है? संसार क्यों कहा जाता है? उत्पत्ति का कारण क्या है? ईश्वर क्या है? ईश्वर साकार है या निराकार? ईश्वर की उपासना क्यों की जाती है? भक्ति क्या है? ज्ञान क्या है? वैराग्य क्या है। जीव क्या है? जीव और जन्तु का प्रभेद क्या है? संचित कर्मफल और प्रारब्ध कर्मफल क्या हैं? जन्म-मृत्यु का कारण क्या है? मोक्ष क्या है? मोक्ष का उपाय क्या है? इत्यादि-इत्यादि सभी बातों का उत्तर न देने पर उसको धर्म नही कहा जा सकता है। धर्म ही परम ज्ञान है। धर्म ही परम सत्य है, धर्म ही चरम पथ-प्रदर्शक है। हिन्दूधर्म में एक आधारमें ये सभी कुछ हैं। इसीलिये हिन्दूधर्म धर्म है अन्य धर्म आभास मात्र हैं। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है-

अन्यस्थाने वृथा जन्म निष्फलं च गतागतकम्।
भारते च क्षणं जन्म, सार्थकं शुभ-कर्मदम्।।

भारत से भिन्न अन्य स्थान में जन्म व्यर्थ है, उसमें केवल निष्फल आनाजाना ही सार है। भारत में क्षण मात्र के लिए भी जन्म लाभ सार्थक है, क्योंकि इससे शुभ कर्म किया जा सकता है। जिसके द्वारा संसार से मुक्त होकर मनुष्य श्रीभगवान के चरणों में निवास करने का अधिकारी होता है।

(४) **सत्य ही भगवान् है**—सत्य ही भगवान् है, इसलिए सत्य का

निर्णय करना सबसे प्रथम कर्तव्य है। सत्य निर्णय से भिन्न, धर्म नही सकता है। सत्य से विच्युत धर्म सोने के पठलौती की तरह कथा मात्र है।

सत्यं ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म।

सत्य ही ज्ञान, सत्य ही अनन्त, सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही भगवान् है। सत्य से भिन्न भगवान् नहीं हैं और भगवान् से भिन्न सत्य नहीं है। जो सत्य नहीं है उस वस्तु का ज्ञान नहीं होता है। जिसका ज्ञान होता है वही वस्तु सत्य है और जिस वस्तु का ज्ञान नहीं होता है वह वस्तु सत्य नहीं है।

सत्य अपरिवर्तनीय है—सत्य का कभी परिवर्तन नहीं होता। सत्य के परिवर्तन करने पर ईश्वर का ही परिवर्तन होता है।

समानं त्रिषु कालेषु सर्वावस्थासु शाश्वतम्।
सनातनं मतं सत्यं चीयते नापचीयते।।

जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीन कालों में एक प्रकार का रहता है, जो सभी अवस्थाओं में एक है, जो सनातन है। जिसकी ह्रास बृद्धि नहीं है अर्थात् जो घटता बढ़ता नहीं है, उसीको सत्य कहते हैं।

(५) **परिवर्ता-परिवर्तम**—तब क्या काल का प्रभाव कुछ भी नहीं है? भूत, भविष्यत्, वर्तमान में वस्तु जब एक ही रही तब सत्य के ऊपर काल की शक्ति कहाँ?

जो सृष्टि प्रकृत ही सत्य है वह कभी बदलती नहीं है। जैसे सृष्टि के आदि से ही नेत्र देखते हैं, कान सुनते हैं, मुख खाता है और बात कहता है, इत्यादि ये सब सृष्टि पर्यन्त ठीक ही रहते हैं।

और जो तात्कालिक सत्य है जो दो दिनों के लिए सत्य है वही बदलते हैं। जैसे, मनुष्य जब शिशु है तब शिशु है, जब कुमार है तब कुमार है, जब युवा है तब युवा है, जब प्रवीण है तब प्रवीण है, जब बृद्ध है तब बृद्ध है, प्रत्येक अवस्था ही कुछ दिनों के लिए सत्य है। उसके बाद ही नाश को प्राप्त होता है और रहता नहीं है। मनुष्य जब जीवित है तब मरता नहीं है। और मरने पर जीवित नहीं रहता है इत्यादि-इत्यादि। तब क्यों कुछ

सत्य, सनातन और शाश्वत कभी भी परिवर्तित नहीं होते हैं और क्यों कुछ सत्य दो दिनों तक सत्य रह कर भूतकाल में सत्य और वर्तमान काल में मिथ्या हो जाता है। थोड़ी-सी आँख खोलकर देखने से देखा जाता है कि जो असल है, वह नितान्त प्रयोजनीय है वही परिवर्तित नहीं होता है और जो सब केवल वाह्य सम्बन्ध करते हैं वे सब परिवर्तित होते हैं।

(६) **धर्म दुर्ज्ञेय है**—सनातन सत्य त्रिकालातीत है, फिर भी मूर्ख अहंकारी मनुष्य पाप के वशीभूत होकर इस सनातन धर्म को खण्ड विखण्ड करने में अणुमात्र भी पश्चात्पद नहीं होता है, याने जरासा भी पैर पीछे नहीं करता, परन्तु सदा तत्पर रहता है। हिन्दूधर्म केवल सनातन नहीं है, परम दुर्ज्ञेय है। इसीलिये अन्धे अहंकारी के खेल की सामग्री है। वे सब कहते हैं—इतने दिन क्या नेत्र के द्वारा देखा जा सकता है? इस सभ्य जगत के सभ्य दिन में अवश्य ही क्या कोई कान के द्वारा देखता है? हायरी सभ्यता।

पापी अजामिल के अन्याय उद्धार को लेकर यमराज यमदूतों को कहते हैं—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्।।
द्वादशैते विजानीमों धर्म्मं भागवतं भटाः।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वाऽमृतमशनुते।।

ब्रह्मा, महेश्वर, कपिलदेव, मनु, यमराज, नारद, सनतकुमार, जनक भीष्म, शुकदेव, प्रह्लाद और बली, ये द्वादश जन ही प्रकृत धर्म क्या है, उसे जानते हैं। कारण, धर्म गुप्त (गुह्य) विशुद्ध अर्थात् निर्मल, राग द्वेष रहित चित्त में ही प्रकाश पाता है (इसीलिए दुर्ज्ञेय है)। इस प्रकृत धर्म को जान लेने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(७) **युगधर्म**—काल के वश सत्य का परिवर्तन नहीं होता है, किन्तु युगधर्म का परिवर्तन होता है कालचक्र प्रति ४३ लक्ष २००० वर्ष में एकबार घूमता है। इस कालचक्र के प्रथम भाग में सत्ययुग, उसके बाद

त्रेता युग उसके बाद द्वापर युग और सबके अन्त में कलियुग आया है। कलियुग के बाद में सत्ययुग आता है। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि,—सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि, इसी प्रकार से कालचक्र घूम रहा है। कलियुग ४,३२००० वर्ष तक रहता है, द्वापर इससे दुगुना, त्रेता इससे तीन गुना और सत्ययुग इसके चारगुना रहता है। अर्थात् ४,३२००० वर्ष के दश गुणित युग-चक्र के एक आवर्तन का परिमाण है।

(८) **सत्य का प्रमाण**—यह सनातन सत्य किस प्रकार से जाना जाय? मनुष्य के पास निश्चय ज्ञान का कोई भी उपकरण नहीं है। मनुष्य को केवल अनिश्चित ज्ञान हो सकता है, निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता है! तब निश्चित ज्ञान किस प्रकार से होता है? इसीलिए आयुर्वेद का कहना है—

आप्तोपदेशः प्रत्यक्षं अनुमानं च युक्तिकम्।
चतुर्विधं प्रमाणं स्यात् शेषत्रयमनिश्चितम्।।

साधारणतः प्रमाण चार प्रकार के हैं—(१) आप्तोपदेश अर्थात् आप्तवाक्य (२) प्रत्यक्ष (३) अनुमान और (४) युक्ति। इनमें अन्तिम तीन अनिश्चित हैं अर्थात् आप्तवाक्य ही एकमात्र सन्देह-रहित प्रमाण है और प्रत्यक्ष अनुमान तथा युक्ति में सन्देह रहता है (Doubt Persists–Max Planck)। जो किसी मनुष्य को नहीं होता है वह आप्त पुरूष को कैसे होता है? आयुर्वेद इसका उत्तर देता है—

आप्तः सत्यः ऋषिः प्रोक्तों दिव्यज्ञान-सुसंयुतः।
रागद्वेषादिभिर्मुक्तो भ्रमादि-दोषविच्युतः।।

आप्त पुरूष ही सत्य पुरूष हैं, वही ऋषि हैं। उनका ही दिव्य ज्ञान पूर्ण मात्रा में है। उनका ज्ञान, देश काल से परिमित नहीं है। वे राग द्वेषादि से शून्य हैं अर्थात् उनको किसी पक्ष में आसक्ति नहीं है। अतएव राग प्रभृति दोष उनको स्पर्श भी नहीं कर पाते हैं। अर्थात् वे कभी भूलते नहीं हैं और कभी भी अन्याय पथ पर चलते नहीं हैं।

मिथ्या और आप्त पुरुष अन्धकार और प्रकाश के समान परस्पर विरुद्ध हैं। किसी भी स्थान में इनका मेल नहीं हो सकता है। आप्त पुरुष सत्य-

पुरुष हो सकता है। तथा उसका सब कुछ सत्य है। उसका आचरण सत्य है। उसका मन सत्य हैं। उसका वाक्य सत्य है। मिथ्या उसको किसी भाँति स्पर्श नहीं कर सकती है। आप्त-शब्द का अर्थ है प्राप्त (पाना)। उसका सत्य, उसका दिव्य ज्ञान उसका दैन्य सब कुछ श्रीभगवान् की निर्हेतुक कृपा के द्वारा प्राप्त है, इसीलिए वह आप्त पुरूष हैं।

(९) प्रलय जगत् सत्ये प्रतिष्ठितम्- जगत् सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित है। अर्थात् सत्य के बिना जगत् ध्वंस हो जाता है। जल यदि जलधर्म त्याग करे, अग्नि अग्निधर्म का त्याग करे, वस्तु वस्तुधर्म का त्याग करे तब ऐसा होने पर जगत् बिना ध्वंस हुए नहीं रह सकता है।

प्रलय काल में (जगत् के ध्वंस समय में) वस्तु वस्तुधर्म त्याग नहीं करती है, केवल कुछ वस्तुएँ अस्वाभाविक धर्म अवलम्बन करती हैं यथा, प्रलय काल में सौ वर्ष वर्षा नही होती है, सूर्य की किरणें भी उसी परिमाण में तेज हो कर जगत को जलाने लगती हैं, पाताल से अग्नि उठकर वायु की सहायता से पृथ्वी को दग्ध करती है। इसके परिणाम स्वरूप पृथ्वी दग्ध गोमय पिण्ड के समान (जले हुये गोईठे के समान) जलती रहती है। तब आकाश में समवर्तक मेघगण दिखाई देकर हाथी के सूँड़ के समान स्थूल धार की वर्षा करते हैं, तब समस्त जगत जलमग्न होकर ध्वंस के मुख में चला जाता है। 'लीयते सलिले विराट्'।

मायास्वरूप निर्णयोनाम द्वितीयपरिच्छेद:

(१०) **जगत् भगवन् मूर्ति**—इस जगत में भगवान् के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जिधर देखिए सब कुछ भगवान् की मूर्ति अर्थात् भगवान् का रूपान्तर मात्र है। जैसा, मिट्टी का पुतला अनेक प्रकार के होने पर भी मृत्तिका का रूपान्तर मात्र है, किसी में भी मृदा से अतिरिक्त काठ, लौह प्रभृति कोई पदार्थ नहीं है। जैसे पत्थर से निर्मित वस्तु भिन्न आकार के होने पर भी पत्थर के रूपान्तर मात्र हैं, जैसे सुवर्ण के अलंकार देखने में जिस किसी रूप के क्यों न हो, सुवर्ण के ही विकार मात्र हैं वैसे ही जगत् अनेक रूप में परिदृश्यमान होने पर भी भगवान की मूर्ति मात्र है। यह कैसे

सम्भव हो सकता है? यही माया है। यह माया क्या है, अब कहा जायेगा!

(११) **माया और उसका कारण**—सृष्टि के पहले श्रीभगवान ने एक होकर भी बहुत होने की इच्छा की।

एकोऽहं बहु स्याम्।

मैं अकेला हूँ, बहुत होऊंगा। एक बहुत कैसे हो सकता है? अकेले बहुत कैसे हो सकता है। एक वस्तु पाँच वस्तुओं में कैसे की जा सकती है! अवश्य तोड़कर पाँच टुकड़े किये जा सकते हैं, किन्तु वस्तु को वैसे ही रखकर पाँच कैसे बनाया जा सकता है? अतएव स्पष्ट ही जान पड़ता है कि उन पाँच वस्तुओं के भीतर एक ही असल है और चार उसके रूपान्तर मात्र हैं। रावण की सभा में अंगद के जाने पर इन्द्रजीत को छोड़कर सभासद् सभी राक्षस रावण की मूर्ति धारण किये हुये थे। अतएव, देखने में वे सब रावण, किन्तु वे सब रावण नहीं थे, रावण को मूर्तिमात्र थे, रावण के रूपान्तर थे। इसी को माया कहते हैं। माया शब्द का अर्थ है बंचना। जो देखने में एक प्रकार का है, किन्तु यथार्थ में भिन्न है, जो लोग रावण के समान देखने में हैं, किन्तु रावण नहीं और रावण न होकर रावण बना है।

(१२) **युगपद् विपरीतत्व**—युगपद् विपरीतत्व क्या है! जो वस्तु जो है वह वस्तु वह नही है, और जो वस्तु जो नहीं है वही वस्तु वही है (अस्ति नास्ति)। यथा—मनुष्य मनुष्य नहीं है, गाय गाय नहीं है, अच्छा अच्छा नहीं है, कठिन कठिन नहीं है, नरम नरम नहीं है इत्यादि। यह मनुष्य की बुद्धि के अगोचर है, बुद्धि के लिये अगम्य है, अवाङ्ग-मनसगोचर अतएव श्रीभगवान का लक्षण अवां-मनस-गोचरम् बुद्धेरगम्यम्। माया का लक्षण अवां मनस-गोचरा, बुद्धेरगम्या।

यदि कोई वस्तु बुद्धिगम्य हो, यदि कोई वस्तु जाना जाय, मन यदि किसी वस्तु की धारणा कर सके तो ऐसा होने पर वह वस्तु ब्रह्म भी नहीं भगवान भी नहीं और माया भी नहीं है।

''युगपद् विपरीतत्वं मायाया एकलक्षणम्।
विरोध-जननी सैव अस्ति-नास्ति-स्वरूपधृक्।।

एक ही काल में, एक ही स्थान में, एक ही पात्र में (युगपद्) विपरीत धर्मों का अवस्थान ही माया का एक मात्र लक्षण (Definition) है। माया भिन्न कभी विरोध नहीं होता है। अस्ति नास्ति माया का स्वरूप है। इसीलिए ब्रह्माजी कहते हैं—

जानन्त एव जानन्तु कि बहूक्त्या न मे प्रभो।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः।।

जो लोग जानते हैं, अर्थात् जो लोग ज्ञान का वृथाभिमान करते हैं वे लोग उस वृथाभिमान को पकड़े रहें। मैं क्या मन, क्या देह, क्या वाक्य के द्वारा तूम्हारे वैभव (लीला) को किसी तरह भी जान नहीं सकता हूँ।

(१३) **वस्तु चिकित्सा**—वस्तु चिकित्सा एक अपरूप वस्तु है। यह केवल माया का खेल है। माया के वश एक ही वस्तु जो स्वभाव सम्पन्न है, उसके विपरीत कार्य करती है। अच्छा भी खराब होता है, खराब भी अच्छा होता है। जो वस्तु जिसको उत्पन्न करती है, वही वस्तु चिकित्सित (शोधित या रूपान्तरित होने पर उसका नाश करती है। जो वस्तु जिस रोग को उत्पन्न करती है वही वस्तु चिकित्सित (शोधित) होने पर उस रोग को नष्ट करती है।

आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुब्रत।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम्।।
एवं नृणां क्रिया योगाः सर्वे संसृति-हेतवः।
त एव आत्म-विनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे।।

हे सुब्रत (सत्कर्मान्वित) मनुष्य देह में जो रोग जिन कारण से उत्पन्न होते हैं, उसी कारण के चिकित्सा होने पर अर्थात्! गुणान्तरित होने पर वही रोग नष्ट करता है। इसी प्रकार से मनुष्य के सकल कर्म ही संसार के कारण मात्र हैं। परन्तु ये कर्म श्रीभगवान के श्रीचरणों में अर्पित होते ही (शोधित) होने से संसार का नाश करता है और मोक्ष का कारण बन जाता है।

आमय: (रोग:) = आमयं द्रव्यम् रोग के कारण। न पुनाति = पवित्र नहीं करता है क्यों? चिकित्सितम् गुणान्तरितम् = (मोह घुमा देने पर)। आत्मविनाशाय देहनाशाय = मोक्षाय। कल्पन्ते = समथा भवन्ति (समर्थ होते हैं)। कल्पिताः परे = श्रीभगवति अर्पिता सन्तः (श्रीभगवान मे अर्पित संसार के कारण मात्र हैं किन्तु वही सकल कर्म ही श्रीभगवान् के चरण कमल में अर्पित होने पर (चिकित्सित होने पर) संसार बन्धन को नष्ट करते हैं और मोक्ष के कारण होते हैं।

(१४) **मनुष्यदेह माया का खेल क्यों?**—माया को जाने बिना किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है, इसको बतलाने के लिए श्रीभगवान् इतने व्यस्त हैं कि समस्त संसार को ही माया का खेल बनाये हैं। देह के सभी कार्य एक दूसरे के विपरीत हैं। हृदय की गति में एक नाड़ी जल्दी चलती है और एक नाड़ी साथ-साथ धीरे-धीरे चलती है। एक ही साथ संकोच और प्रसार दोनों ही विपरीत कार्य से मल मूत्र का त्याग होता है। साँप टेढ़ा मेढ़ा घूम कर आगे चलता है, पक्षी दोनों पंखों द्वारा वक्र भाव से वायु को ताड़न करते हुए सामने अग्रसर होता है। वैसे ही मनुष्य भी सीधे अग्रसर नहीं हो सकता है। ऊपर की ओर नीचे के शरीर को फेंककर ही मनुष्य चल सकता है। ऐसे बहुतेरे दृष्टान्त दिये जा सकते हैं जो कठिनता के कारण छोड़ दिये जा रहे हैं।

(१५) **पदार्थ विद्या तथा रसायन शास्त्र**— पदार्थ विद्या एवं रसायन शास्त्र भी माया की विशेष विकास भूमि है। किसी जड़ पदार्थ की भाँति ऊपर बैठने पर वह जड़ पदार्थ भी चेतन के उस मनुष्य को विपरीत भाव से ठेलता रहता है। Action and reaction are equal and opposite.

(१६) **विज्ञान में माया (Science)**: Max Planck मैक्स प्लैंक वर्तमान विश्व के एक श्रेष्ठ गणितज्ञ और पदार्थ विद्या विशारद हैं। उन्होंने अंग्रेजी १९६७ साल में "The Universe in the light of Modern Physics" नामक पुस्तक में लिखा है "गणित की गणना जितनी भी सावधानी से क्यों न की जाय प्रत्यक्ष अनुभव के बिना सम्पूर्ण व्यर्थ है। सन्देह रह ही जाता है।"

गणित शास्त्र क्यों ठीक नहीं होता है, क्यों सारे विषयों में सन्देह रहता है? प्लैंक ने स्वीकार किया परन्तु वह समझ नहीं सके।

(१७) **Reason Science and Shastras**—अंग्रेजी १९३२ साल में Reason Science and Shastras (विचार भ्रांत और कुंठित, विज्ञान भ्रान्त और शास्त्र ही एकमात्र सत्य) नामक पुस्तक प्रकाशित हुई और फ्रान्स, जर्मनी, इंलैण्ड तथा अमेरिका के प्रधान प्रधान वैज्ञानिकों के पास भेजी गयी। उसके दो वर्ष पश्चात् प्लैंक ने Where is Science Going? (कुतो विज्ञान) अर्थात् विज्ञान किस दिशा की ओर जा रहा है नामक पुस्तक में माया को स्वीकार किया। There are two thoms that form together the cardinal hinge on which the whole structure of Physical Science turns. To a certain charge, these two statues are mutually contradictory. And this fact discloses the presence of an irrational or mystake element which whereto Physical Science as to way branch of knowledge.यथा—पदार्थ विद्या दो वस्तुओं के ऊपर प्रतिष्ठित है, वे दोनों वस्तुयें परस्पर विरूद्ध हैं, इसलिये पदार्थ विज्ञान व दूसरे विज्ञान सभी में दूर्ज्ञेयत्व विद्यमान है। अर्थात् अवाङ्मनसगोचरत्व प्रकट हो रहा है। जो दूर्ज्ञेय है वह सर्वदा ही हमारे सामने आता है अतः मनुष्य का किसी विषय में भी निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता है। अपने विषय की तो बात ही नहीं है। अर्थात् मनुष्य का किसमें कल्याण होता है और किस में अकल्याण होता है, समाज किस प्रकार गठित होना चाहिये, सामाजिक नियम क्या होगा इत्यादि विषयों में मनुष्यों के लिए कुछ भी जानने का उपाय नहीं है।

चक्षुर्यथैवाकृतयस्ततःपरम्।

आँख जिसप्रकार अपने को नहीं देख पाता है, किन्तु इसके अतिरिक्त सब कुछ देख पाता है उसीप्रकार मनुष्य अपने को नहीं समझ पाता है परन्तु अनेक वस्तुओं को जान सकता है।

(१८) **मोह**—माया के युगपत् विपरीतता से ही मोह की उत्पत्ति हुई है। मोह-अज्ञान, बुद्धि नाश, भ्रान्ति है।

(१९) **अहंकार**—मोह से ही अहंकार अर्थात् मैं मालिक हूँ यह ज्ञान होता है।

अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते। गीता।।

अहंकार के वश बुद्धि के लोप हो जाने पर मनुष्य अपने को वृथा कर्त्ता समझने लगता है।

''**न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः**। गीता।।

श्री भगवान ने जीव के कर्तृत्व और कर्म दोनो में एक की भी सृष्टि नहीं की है। अर्थात् दुर्बुद्धि वश जीव अहंकार के कारण अपने को कर्ता मानता है और कर्म करता है।

(२०) **देहाभिमान**—श्रीभगवान ने जीव देह की सृष्टि की, जीवात्मा अहंकार के उस देह में अभिमान करता है (अर्थात् अपना देह मानता है) तभी देहाभिमान के वश जीव उस देह में आबद्ध होकर संसार में घूमता रहता है।

''अनात्मनि शरीरादौ, आत्मबुद्धिस्तु या भवेत्''
सैव माया तयैवासौ संसारः परिकल्पते।।

अध्यात्यरामायणम्।

शरीरादि अनात्मा अर्थात् आत्मा नही है। उस अनात्मा देह में आत्मबुद्धि (अपनापन का ज्ञान) माया का कार्य है। इसी से संसार है। आत्मा शब्द के चार अर्थ हैं—(१) आत्मा (२) बुद्धि (३) मन (४) देह।

(२१) **अभिमान**— अभिमान शब्द के दो अर्थ हैं—(१) अहंकार से उत्पन्न अपना कहकर मिथ्या ज्ञान (२) क्षुण्णाऽहंकारः प्रतिहृताहंकार। अहंकार क्षुण्ण अथवा प्रतिहत होने पर अभिमान होता है।

(२२) **संसार**— सम् + सृ + घञ् (सृ=गतिः)। जो सर्वदा चलता

ही रहता है, किसी प्रकार भी रुकता नहीं हैं उसी को संसार कहते हैं। देहाभिमान के कारण ही जीव संसार में बंध जाता है ओर अनन्तकाल तक संसार में घूमता रहता है। जब तक श्रीहरि की अहेतुक कृपा से वह देहाभिमान नष्ट नहीं होता है तब तक संसार की निवृत्ति नहीं होती है। जब तक हम हमारा यह मिथ्या ज्ञान नष्ट नहीं होता है तब तक संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती है।

'कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम्'

(श्रीमद्भागवतम्-८।१६।१९)

कौन किसका पति है, कौन किसका पुत्र है इत्यादि अर्थात् कोई किसी का नहीं है, मेरा पति, मेरा पुत्र यह सबही मिथ्या है। मोहवश ही यह ज्ञान होता है।

(२३)**मोक्ष/मोचन**—अहंकार के नाश होने से देहाभिमान नष्ट होता है। देहाभिमान नष्ट होने से संसार बन्धन छूट जाता है। मोक्ष् (मोचन) + अच् = मोक्षः संसार युक्तिः। इसी मुक्ति को मोक्ष, परमपदप्राप्ति एवं वैकुण्ठ लाभ कहते हैं। जब तक अहंकार रहता है तब तक किसी प्रकार से भी मोक्ष नहीं होता है।

जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः।
ये पुनर्नेह जायन्ते शेषाः जरठगर्दभाः।।

जो लोग इस संसार में पुनः लौटकर नहीं आते हैं वे लोग ही मनुष्य हैं, उन्होंने ही यथार्थ जन्म धारण किया है, उन्ही का जीवन सार्थक है, बाकी सब जन्तु हैं, अकर्मण्य बुढ़े गदहे हैं।

(२४) **देहान्त**—साधुपुरुष की मृत्यु होने पर देहबन्धन छूट जाता है। अतएव साधुपुरूष की मृत्यु को ही देहान्त कहते हैं।

संसार-तरणोपाय-नाम तृतीय-परिच्छेदः।

(२५) **सङ्ग**— मनुष्य के लिये संसार से तरने के उपाय तीन हैं (१) अनुष्ठान, (सङ्ग, स्त्रीसंग, आचार, स्पृष्टास्पृष्टि) (२) ज्ञान (अचित्वत्परतन्त्र,

विपरीतबुद्धि, विश्वास) (३) आचार (दीनहीन, अकिंचन, भगवदिच्छा का अनुसन्धान, दैव और पुरुषकार, अहेतुक कृपा)। इन सबों में सङ्ग ही सर्वश्रेष्ठ है। सङ्ग के समान प्रबल और कुछ नहीं है। संग सर्वशक्तिमान है। इञ्जन जैसे गाड़ी को खींच कर ले जाता है, गाड़ी को कुछ नहीं करना पड़ता है, केवल चक्के के ऊपर बैठे रहने से ही हो गया वैसे ही सङ्ग मनुष्य को सहज में ही खींचकर ले जाता है, मनुष्य को कुछ भी नहीं करना पड़ता है, केवल सङ्ग करने से ही हो जाता है। अनायास-लब्ध और अलंघ्य पराक्रम के कारण ही सङ्ग सबसे प्रबल है। अतः सङ्ग करने में कोई कष्ट नहीं है। और उसकी शक्ति सबसे अधिक है। नीचे सङ्ग के सम्बन्ध में कई एक उदाहरण दिये जाते हैं—

सर्प का सङ्ग करने से सर्वनाश, वाघ के सङ्ग से प्राणनाश और मगर के साथ सङ्ग करने से जीवनान्त होता है। अत्यन्त शीत के समय अग्नि के सङ्ग से शीत की निवृत्ति होती है। अत्यन्त ग्रीष्म के समय वायु और जल के सङ्ग से गर्मी मिटती है। वैसे ही साधु सङ्ग से भक्त के सङ्ग से मोक्ष मिलता है। असत्सङ्ग करने से नरक पकड़ने के लिए दौड़कर आता है इसीलिए कहावत है—

'सत्सङ्ग से काशीवास, असत्सङ्ग से सर्व विनाश।'

सत्सङ्ग ऐसा प्रबल है कि साधु पुरूषों के उच्छिष्ट खाने से ही बुद्धि की मलिनता मिट जाती है। जो मनुष्य शतशः चेष्टाओं से भी नहीं कर पाता है।

साधु पुरूष की सेवा और भी प्रबल है। श्रीचैतन्यदेव के बाद ही श्रीनरोत्तम दास एक कायस्थ राजा के पुत्र होकर जन्मे थे। थोड़ी अवस्था में ही वे गृह त्यागकर साधु सङ्ग के लिये श्रीवृन्दाबन गये। साधु पुरूष की कृपा तो सहज में ही नही मिलेगी इसलिये तीन बजे रात को ही लोकनाथ गोस्वामी का मार्ग और पाखाना साफ करने लगे। बहुत दिनों तक ऐसा करने पर लोकनाथ गोस्वामी को आश्चर्य हुआ। उन्होंने जानना चाहा कि कौन हमारा मार्ग छिपकर साफ करता है? चुपके-चुपके कौन हमारा पाखाना साफ कर जाता है? उस समय उन्होंने अपने अनुयायियों

से पूछा, किन्तु कोई भी कुछ बता न सका। वह आदमी कौन है इस बात को जानने के लिये रात के तीन बजे के पहले ही से पाखाना में लोकनाथ गोस्वामी छिपे रहे। तत्पश्चात् जैसे ही नरोत्तम पाखाना साफ करने के लिये आये, वैसे ही लोकनाथ गोस्वामी ने पूछा, तुम कौन हो? नरोत्तम ने काँपते हुए कहा—प्रभो मैं दीन हीन हूँ, मेरा अपराध ग्रहण न करें। लोकनाथ गोस्वामी ने उन्हें समीप बुलाकर कहा, तुम ऐसे घृणित कार्य क्यों करते हो? तुमको देखने से मालूम होता है कि तुम अच्छे कुल में उत्पन्न हुये हो। नरोत्तम ने कहा—प्रभो! मैं आपकी कृपा का प्रार्थी हूँ। मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे मैं आपकी कृपा प्राप्त कर सकूँ। आपकी सेवा करने का भी मुझे अधिकार नही है। इसी से छिपकर आपकी यह घृणित सेवा मैं करता हूँ। लोकनाथ गोस्वामी ने परम सन्तुष्ट होकर नरोत्तम को अपना शिष्य बनाया। यह नरोत्तम दास ही लोकनाथ गोस्वामी के एकमात्र शिष्य हुए। आजकल का सभ्य मनुष्य परम निबुर्द्धिता को ही चरम ज्ञान समझ नाक सिकोड़ते हुए कह उठेगा यह सब तो अतिमात्र है। ऐसा भी कभी होता है? यदि हो, तब लोकनाथ बहुत खराब आदमी थे।

इन सभी बातों के उत्तर में प्रस्तुत विषय को छोड़कर एकदम दूर चला जाना पड़ता है। अतः उनलोगों को यथार्थ उत्तर न देकर इतना कहना ही पर्याप्त होगा—पाखाना साफ करना देखने में पाखाना साफ करना है, किन्तु वस्तुतः लोकनाथ को कान पकड़कर अपनी इच्छा के विरूद्ध दीक्षा देने के लिये वाध्य करना है। यदि चुपके से पाखाना साफ न करते तो नरोत्तम लोकनाथ को किसी तरह भी वाध्य नहीं कर सकते थे। यह ठीक धरना देने के समान (५०३ धारा का) अपराध नहीं हुआ क्या?

यह तो ठीक ही है, किन्तु वर्तमान सभ्यजगत को जानकर भी नहीं जानना है कि कुछ न होने से कुछ नहीं होता है।

एक वस्तु से दूसरी वस्तु हो सकती है, किन्तु किसी वस्तु के बिना कोई वस्तु नहीं हो सकती है।

प्रायः ५० वर्ष पहले विज्ञान इस बात को सुनकर हँसते-हँसते पागल

हो जाता था। यह बात कितनी प्रबल सत्य है उसे पागल विज्ञान कैसे जानेगा? कुछ न देने से कुछ नहीं होता है। पाखाना साफ करना इत्यादि अलक्षित सेवा के लिये लोकनाथ को अपना पुण्य देना ही होगा। इसीसे लोकनाथ ने वाध्य होकर नरोत्तम को दीक्षा दी। बिना मूल्य वस्तु के लेने पर बदले में पुण्य चला जाता है। इसे यदि मूढ़ जगत मन में रखता तो जगत की गति आज कुछ और तरह की ही होती।

अवतार ऋषभदेवजी के एक सौ पुत्र थे। उनमें भरत सबसे बड़े थे। अन्य बहुत से पुत्र भी श्रेष्ठ भक्त थे। तथापि ऋषभदेवजी उन लोगों को भरत का अनुकरण करने के लिये कहते थे।

भरतेन समो राजा न भूतो न भविष्यति

पृथिवी में भरत के समान राजा न हुआ न होगा। इन्हीं के नाम से अजनाभवर्ष भारतवर्ष के नाम से विख्यात हुआ। ये भगवान के अवतार न होने पर भी भगवत्कल्प, भगवान के समान थे। इनकी भक्ति असीम थी, ज्ञान भी असीम था। ५० वर्ष की अवस्था में इन्होंने सिंहासन का त्याग कर वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण किया था। एक दिन सिंह की गर्जना सुनकर एक हरिणी उछल कर नदी को पार कर रही थी उसी समय उसके गर्भ का बच्चा हरिण नदी की धार में गिरकर बह रहा था। उसे देख शरणागत वत्सल भरत के हृदय में परम दया का आविर्भाव हुआ। उन्होंने उस विपत्ति में पड़े हुए हरिण के बच्चे को लाकर अपने आश्रम में स्थान दिया। शरणागत की रक्षा करने में प्रवृत्त भगवत्कल्प भरत मृत्यु के समय भी उस मृग शावक की चिन्ता का परित्याग न कर सके और उस हरिण में चिन्ता के कारण ही उन्हें हरिण होकर जन्म लेना पड़ा।

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।। गीता।

मनुष्य जिस वस्तु (भाव) का चिन्तन करता हुआ देह का त्याग करता है, हे कौन्तेय (अर्जुन) देह के अन्त में वह उसी वस्तु को ही प्राप्त करता है (अवैति)। क्योंकि उसकी वही चिन्ता प्रबल रहती है और उसी प्रबल

चिन्ता के वश वह उस भाव को प्राप्त करता है। शरणागत की रक्षा करना मनुष्य का श्रेष्ठ कर्तव्य है।

यो जहाति भयेनैव जनं च शरणागतम्।
तं प्रयाति परित्यज्य धर्मः शप्त्वा सुदारुणम्।

ब्रह्मवैवर्तपुराणम्।

जो व्यक्ति सामर्थ्य रहते हुए भी भयवश शरणागत जनका त्याग करता है (जह्यति) अर्थात् रक्षा नहीं करता है, उस व्यक्ति को धर्म एकदम त्याग देते हैं और त्याग कर जाते समय भयङ्कर श्राप दे जाते हैं (शप्त्वा)। इस सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य के पालन करने में उस भगवत्कल्प भरत को यदि हरिण के संग से हरिण का जन्म लेना पड़ा तो संग कितना प्रबल भयानक है इसे समझने में किसी को भी विलम्ब नहीं होना चाहिए।

हरिण जन्म से शीघ्र ही उद्धार पाकर भरत ने श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में जन्म ग्रहण किया। भक्ति के प्रभाव से इन दोनों जन्मों में भरत को अपना वृत्तान्त ज्ञात रहा। इसी से वे संग के भय से भीत होकर सन्ध्या गायत्री तथा यज्ञोपवीत का परित्याग कर एकदम जड़ हो गये। जो कोई पकड़ कर जिस किसी काम में लगा देता था वही करते थे। कभी बैल के साथ हल खींचते थे, कभी पालकी ढोते थे, कभी मचान पर बैठकर रात भर खेत की रखवाली करते थे। कभी नरबलि होने के लिये वधकाष्ठ में सिर देकर पड़े रहते थे। किसी में भी आपत्ति नहीं थी।

आलापाद् गात्रसंस्पर्शात् शयनात् सहभोजनात्।
संचरन्ति हि पापानि पुण्यञ्चैव तथा विशेत्।।

—नारद पञ्चरात्रम्।

क्या बातचीत करना, क्या शरीर का स्पर्श करना, क्या एक साथ शयन करना, क्या एक साथ भोजन करना इन सभी कार्यों से एक देह से दूसरे देह में पाप का संक्रमण होता है वैसे ही पुण्यात्मा के शरीर से पुण्य भी अन्य शरीर में प्रवेश करता है (विशेत्)। पापी के साथ बात करने पर भी पाप लगता है और पुण्यवान् के साथ बात करने पर पुण्य होता है। इसी

प्रकार से शयन, भोजन, शरीर स्पर्श प्रभृति भी विचार पूर्वक साबधानी से करना चाहिए।

तस्माद् भक्तैः सहालापं कुरुते पण्डितः सदा।
यात्येवाभक्तसंसर्गात् दुष्टात् सर्पाद् यथा नरः।।

नारद पञ्चरात्रम्।

अतः जो पण्डित हैं वे सदा भक्तों के साथ बातचीत करते हैं। अभक्त के साथ संस्पर्श होने पर विनाश होता है (याति) जैसे दुष्ट सर्प के संग से प्राण चला जाता है।

कुसंग दूषिता बुद्धि-र्नहि गच्छति शुद्धताम्।

आदि पुराणम्।

कुसंग के द्वारा दूषित बुद्धि किसी प्रकार से भी शुद्ध नहीं होती है। अतएव कुसंग के समान कल्याण का नाश करनेवाला दूसरा नहीं है।

(२६) **स्त्री सङ्ग**— स्त्री सङ्ग बड़ा ही भयानक है। यह सभी कुसङ्गों में श्रेष्ठ है।

रचिता देवमायेयं विमोहाय नृणामिह।

आदि पुराणम्।

यह देवमाया के रूप में रची गयी है, ताकि मनुष्य की बुद्धि एकदम लूप्त हो जाय (विमोहाय)।

(२७) **आचार**— शुद्ध सङ्ग को आचार कहते हैं। जिन अनुष्ठानों के सङ्ग से अर्थात् जिन अनुष्ठानों को करके शरीर मन तथा वाणी में पवित्रता सम्पादित हो जाती है उन्हीं अनुष्ठानों को आचार कहते हैं। और जो अपवित्र है उसी को अनाचार कहा जाता है। आचार शास्त्रविहित है, वह कल्पना का विषय नहीं है। शास्त्र का कहना है—

आचार प्रभवो धर्मः आचारो हन्ति चाशुभम्। ९००२४८५
आचाराद् विच्युतो भक्तः सर्व कर्म वहिष्कृतः।।

मनु। वृहन्नारदीय पुराणम्।

आचार से ही धर्म होता है। आचार को छोड़कर धर्म नहीं होता है। आचार मनुष्य का सब अशुभ नाश करता है। यहाँ तक कि ब्राह्मण भक्त भी यदि आचारहीन हो तो वह किसी सत्कर्म का अधिकारी नहीं होता है। अर्थात् उसके सत्कर्म करने पर भी राख में घी डालना हुआ। अस्पृश्य चाण्डाल से भी हीन है। क्योंकि चाण्डाल यदि अपने आचार में स्थित रह कर भक्त हो तो वह सभी कर्मों का अधिकारी होता है और अन्त में संसार से मुक्त होकर श्रीहरि के अभय पद को प्राप्त करता है।

(२८) **स्पृष्टास्पृष्टि**— जो जीव अत्यन्त पापी है तो भी उसका इतना पुण्य है कि उसके द्वारा वह भक्ति करने पर, शास्त्र में विश्वास करने पर, अपने पाप का स्मरण करने पर, संसार से मुक्त हो सकता है उसको ही श्रीभगवान अस्पृश्य योनि में मनुष्य जन्म देते हैं। ''आलापात्'' नियम के कारण उन्ही लोगों के साथ बात नहीं करनी चाहिये, उनको छूना नहीं चाहिये, उन लोगों को देखना नहीं चाहिये इत्यादि इत्यादि। इसी को कहते हैं स्पृष्टास्पृष्टि। जो अहङ्कारवश भगवान की मूर्ति को अस्पृश्य समझता है, जो भगवान की मूर्ति से भी घृणा करता है उसका नरक अनिवार्य है। इसीलिए शास्त्र ने विधान किया है—

प्रणमेद् दण्डवद्भूमौ आ-श्वचाण्डाल-गोखरम्।

—श्रीमद्भागवतम्-११ / २९/१६

क्या कुत्ता(श्व) क्या चाण्डाल, क्या हेय से भी हेय (गोखर) सब को ही दण्डवत् प्रणाम करे। (आ = पर्यन्त)। (कुत्ता चाण्डाल से गोखट-गाय के गधा तक)।

(२९) **एकाकार**—कुसङ्ग सर्वनाश का मूल है। स्त्री संङ्ग और भी भयानक है। अनाचार भी बड़ा हानिकारक है। इसीलिए कलि के जीव इन तीनों के द्वारा एकाकार करने के लिए पागल हो रहे हैं। एकाकार न होने पर पाप में शरीर को डुबो देना सम्भव नहीं होता है। इसीलिए पापी कलि के जीव न जाने कितना बहाना करते हैं।

(३०) **जातिभेद**— जातिभेद एकाकार का परम विरोधी है। इसीलिये

कहीं भी जातिभेद का पालन नहीं करते हैं, और जातिभेद के झूठे कोलाहल से जगत को भर देते हैं। अपितु मनुष्यसर्वत्र ही जातिभेद के सिवाय और कुछ नही देखता है— मनुष्य की जाति, पशु की जाति, पत्थर की जाति, जल की जाति, भूमि की जाति इत्यादि।

सर्व जातिमयं जगत्

जाति नहीं है ऐसा कोई पदार्थ ही पृथ्वी पर नहीं मिलता है।

(३१) **अचित्वत्परतन्त्र**—कई एक वस्तुओं का ज्ञान हो जाने पर मोक्ष प्राप्ति के समान और कुछ सहज नहीं रह जाता है। उनमें सबसे श्रेष्ठ अचित्वत्परतन्त्रता है। जिसको अचित्वत् परतन्त्रता का ज्ञान सर्वदा ही है उसे मुक्ति के लिये चेष्टा नहीं करनी पड़ती है। मुक्ति ही उसे खोज निकालती है और संसार उसके भय से दौड़कर भाग जाता है। अचित्वत् परतन्त्रता क्या है? श्रीभगवान के सम्पूर्ण अधीन होना।

मनुष्य देखने में स्वाधीन किन्तु सम्पूर्ण ईश्वर के अधीन है। यही माया का कार्य है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे एव तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ाणि चार्जुन।।
मायया शरणं गच्छ सर्वभावेन तस्य च।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।

अथवा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदयेशोऽर्जुन तिष्ठति।
भ्राम्यन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया।।
तभेत शेरणं गच्छ सर्वत्रावेन भारत
तत्प्रसादात् परा शान्तिस्थानं प्राप्स्यसिशाश्वतम्।। —गीता १८/६१/ ६२

ईश्वर सकल प्राणियों के हृदय में ही (अन्तर में ही) निवास करते हैं। वे हृदय में रहकर सबको कल की पुतली की तरह (यन्त्रारूढ़ानि) चला रहे हैं (भ्रामयन्)। माया के कारण कल के पुतले के समान होने पर भी तुम्हारा पुरुषकार (पुरूषार्थ) है। उसके चरणों में (तस्य, शरीर मन वाणी

से (सर्वभावेन) शरण लो उसी की कृपा से (तत्प्रसादात्) परम शान्ति और वह चिरन्तन (शाश्वत) स्थान पाओगे जिस स्थान से पुन: संसार में लौटकर आना नहीं पड़ता है।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

जहाँ जाने पर पुन: संसार में लौटना नहीं पड़ता है वही हमारा परम धाम है।

मनुष्य पुरुषकार के होने पर भी ईश्वर के हाथों का पुतला है। इसीलिए ईश्वर को अन्तर्यामी कहते हैं। जो भीतर रहकर जीव लोक को चालित करते हैं वही अन्तर्यामी हैं।

(३२) **विपरीत बुद्धि**— मनुष्य वास्तव में कल का पुतला है। मायावश पुरुषकाय है इस हेतु की जो मनुष्य भूल जाता है कि वह कल का पुतला है उसकी विपरीत बुद्धि की बात क्या कही जायगी। इसी लिये शास्त्र का कहना है—

तस्माद् अनिष्टमेव इष्टमिव भाति
इष्टमेव अनिष्टमेव भाति।
अनादिसंसारविपरीतभ्रमात्।।

त्रिणोद् विभूति महानारायपापनिषत्।

इसीसे अनिष्ट में इष्ट का ज्ञान और इष्ट में अनिष्ट का ज्ञान होता है।

यह विपरीत भ्रम संसारी मनुष्यों में अनादि काल से ही है। इसी विपरीत बुद्धि को विकृत बुद्धि कहते है (विकृत = विपरीत कृत)

(३३) **विश्वास**—विपरीत भ्रम के कारण विश्वास के अतिरिक्त मनुष्य की गति नहीं है। विश्वास किसको करना पड़ता है? शास्त्र में अविचारित विश्वास करना चाहिये। साधु की बात पर, भक्त की बात पर, ज्ञानी की बात पर और गुरूवाक्य पर अविचारित विश्वास करना चाहिये, एक बात में अपने पर अविश्वास और अपने प्रकृत बन्धुओं पर यथा संभव विश्वास होना चाहिए। इससे कभी-कभी ठगा भी जा सकता है, परन्तु विकृत बुद्धिवश बार-बार ठगे जाने की अपेक्षा बहुत अच्छा है।

'रीजन सायन्स एण्ड शास्त्राज्' नामक पुस्तक को पढ़कर मैक्स प्लांक ने स्वीकार किया है कि विश्वास के बिना ज्ञान नही होता है।

जो इष्टानिष्ट-विपर्ययकारी-विपरीत बुद्धि मनुष्य अपने को अविश्वास न कर विश्वास करता है उसके समान दुर्बुद्धि मनुष्य दूसरा नहीं है। यह भयंकर दुर्बुद्धि केवल अहंकार के वश ही होती है।

(३४) **नास्तिकता**— नास्तिकता के बराबर पाप नहीं है क्योंकि शास्त्र भगवान का लिखा हुआ है उसी शास्त्र पर अविश्वास कर अपनी विपरीत बुद्धि पर विश्वास करने के समान और दुर्बुद्धि क्या हो सकती है?

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
विनिर्गताश्चतुर्वेदाः तन्मुखात्तदनन्तरम्।।
पुराणमेकमेवासीत् शतकोटि प्रविस्तरम्।
कलिना ग्रहणं दृष्टवा द्वापरे द्वापरे सदा।।
चतुर्लक्षप्रमाणेन व्यासरूपधरो विभुः।
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाशते।।

पुराण सर्वशास्त्रों के पहले ब्रह्माजी के मुख से निकले। पुराणों के पश्चात् चार वेद भी ब्रह्माजी के मुख से प्रकट हुए। पहले पुराण एक ही था जिसमें शतकोटि श्लोक थे। कलियुग के मनुष्यों के लिये यह गहन (दुष्प्रवेश्य) होगा ऐसा देखकर युगचक्र के प्रत्येक द्वापर युग में स्वयं श्रीभगवान विष्णु व्यास के रूप में अवतीर्ण होकर उस शत कोटि श्लोक वाले पुराण को चार लाख श्लोक में परिणत कर अठारह भागों में विभक्त कर एक ही पुराण को अठारह पुराण बना देते है। द्वापर के अन्तिम भाग में स्वयं विष्णु कलि के जीवों के लिये शास्त्र लिख जाते हैं। किन्तु अहंकार के मोह में पागल कलि का जीव दो दिनों में उसे अनेक बहाने पर उलट देता है।

अहोऽज्ञ-जनताज्ञता।

अहो! अज्ञ जनों को कैसी अज्ञता है?

(३५) **दीनहीन***—इस ज्ञान साधन का श्रेष्ठ उपाय क्या है? सत्सङ्ग,

असत् सङ्ग का त्याग और आचार। अनायास ही इन्हें किया जा सकता है, इससे वे सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु वास्तविक दीनहीन अकिञ्चन होने के लिये अभ्यास करना ही ज्ञान साधन का एकमात्र उपाय है। जो अपने को छोटा समझता है, जो अपने को अभावग्रस्त समझता है वही दीन है। मेरा कुछ नहीं है, मैं बड़ा अधम हूँ जो ऐसा समझता है वही दीन है। दीन और हीन दो शब्द होने पर भी यथार्थतः दोनों एकार्थ हैं और दोनों मिलकर एक वस्तु हैं। मनुष्य आँख खोलकर देखने पर देखता है, ऐसा कि न ताककर भी देखने के लिए वाध्य होता है, भगवान ने उसे सब प्रकार से ही दीन हीन बनाया है। जन्म के समय में वह एकदम असहाय रहता है, खा भी नहीं सकता है, मृत्यु के समय भी ऐसा रहता है। मध्य में व्यर्थ के आडम्बर बहुत कुछ हैं किन्तु यथार्थतः कुछ भी नहीं है। बुद्धि नहीं है, ज्ञान नहीं है, भक्ति नही है ऐसा कि अपनी भाषा में एक बात बोलते समय दश भूलें करता है। अहंकार का दौरात्म्य दूर हो जाने पर यह अपने आप जाना जाता है, नहीं तो हजार उपायों से भी समझ में नहीं आ सकता है। दीन होने की चेष्टा न करने पर अहंकारकि सी तरह नहीं जाता है। इसीलिये शास्त्र का कहना है—

हरिद्रीनानुकम्पनः

दीन पर ही श्रीहरि की कृपा होती है।

(३६) **अकिञ्चन**— दीन हीन न होने पर अकिञ्चन नहीं हुआ जा सकता है, न किञ्चन अस्ति अस्य इति अकिञ्चनः, जिसका कुछ भी नहीं है वही अकिञ्चन है। मनुष्य संसार में खाली हाथ ही आता है, और संसार से खाली हाथ ही लौट जाता है। जन्म के समय उसके साथ कुछ भी नहीं आता है (प्रारब्ध भिन्न) और मरने के समय कुछ भी साथ नहीं जाता है (धर्म भिन्न)। मेरा धन, मेरा मान, मेरा यश, मेरा गृह, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र इस मिथ्या कोलाहल से जगत को परिपूर्ण करके अन्त में मृत्यु के ग्रास में चला जाता है।

न यत् पुरस्तात् उत यन्न पश्चात्।

मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।।

जो आगे (पुरस्तात्) नहीं है और जो पीछे नहीं था वही मध्य में होने पर भी नही है ऐसा समझना होगा, मध्य में जो उसका अस्तित्व दिखाई देता है वह छलना मात्र है (व्यपदेशः)। अतएव मनुष्य को धन, सम्पत्ति, मान, यश, स्त्री सभी मिथ्या हैं।

एक एव सुहृद्धर्मों निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति।।

धर्म ही एकमात्र मनुष्य का बन्धु (सुहृत्) है। क्योंकि मृत्यु के बाद भी (निधनेऽपि) वह साथ-साथ जाता है (अनुयाति) और यमराज के सामने साक्षी देता है। जगत के अन्य सभी पदार्थ शरीर के साथ-साथ ही नष्ट हो जाते हैं अर्थात् सम्बन्ध छोड़कर चले जाते हैं।

जो मनुष्य सदा ही जानता है कि मेरा कुछ भी नहीं है, मेरी विद्या, बुद्धि, मान, यश, धन, सम्पत्ति, पुत्र, स्त्री सब कुछ भगवान के दिये हुए हैं, जो कभी भूल से भी इन सभी वस्तुओं में अभिमान नहीं करता है उसी को अकिंञ्चन कहते हैं। इसी से शास्त्र का कहना है—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा।।

जो यथार्थ ब्राह्मण है वह सम्मान को विष के समान जानकर डरता है (उद्विजेत = उद्विग्न होता है) और अमृत के समान सर्वदा अपमान की आकांक्षा रखता है।

(३७) **भगवदिच्छानुसन्धान**— जो यथार्थ में अचित्वत् परतन्त्र है, जो यथार्थ में हीन हीन है, जो सचमुच अकिञ्चन है उसको फिर कहना नहीं पड़ता है कि भगवान की इच्छा का अनुसन्धान कर उनके इच्छानुसार कार्य करना उचित है।

तवैतत् सुतुष्टेरनन्यन् निमित्तं तवेच्छा प्रतीक्षा मनोधीशरीरा।
तदेवैव धर्म्मं तदा वै हि बोधः तदेवैव भक्तिः तदा वै हि दास्यम्।।
अहङ्कार निष्ठो विमोघो हि बोधो भवेत् सर्व धर्मो विमोघो विमोघः।

अहङ्कार-निष्ठा विमोघा हि भक्तिः अहङ्कारमुक्तो जनो बन्धमुक्तः।।

हे भगवान! तुम्हारे सन्तोष का एकमात्र उपाय है मन, वाणी और शरीर से तुम्हारी इच्छा की प्रतीक्षा करना, तभी धर्म, तभी ज्ञान, तभी भक्ति, तभी दास्य सिद्ध होता है। अहङ्कार की निवृत्ति के बिना ज्ञान व्यर्थ है, सभी धर्म व्यर्थ से भी व्यर्थ हो जाते हैं, भक्ति भी व्यर्थ हो जाती है अहङ्कार से मुक्त होने पर मनुष्य संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

यदि कहो कि भगवान की इच्छा भी तो जानी नही जाती है, यह बात ठीक नहीं है! अहङ्कारी मनुष्य के प्रसंग में यह पूर्णतया सत्य है? किन्तु जो अकिञ्चन हैं वे प्राय: जान जाते हैं। और न जानने पर भी हानि क्या है? भगवदिच्छा का अनुसन्धान तो सर्वदा ही किया जा सकता है। और अनुसन्धान करने पर ही यथा साध्य प्रयास किया गया। बाकी श्रीभगवान के हाथों में है। इसीलिए शास्त्र का कहना है—

"समर्थो धर्ममाचरेत्"

सम्पूर्ण धर्म का पालन नहीं करना पड़ता है। यथाशक्ति पालन करना पड़ता है। असमर्थ होने पर पालन न होने पर भी दोष नहीं होता है। श्रीभगवान अहेतुक कृपा कर स्वीकार कर लेते हैं कि धर्म पालन किया गया।

(३८) **दैव और पुरुषकार**—माया के ठाट को बचाये रखने के लिये ही दैव (भगवत् कृपा) फलदायक नहीं होती है, केवल पुरुषकार की अपेक्षा रखती है।

यथाह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।
बिना पुरुषकारेण तथा दैवं न सिध्यति।।

जैसे एक पहिये की गाड़ी नहीं चलती है, वैसे ही पुरुष की चेष्टा के बिना भगवदनुग्रह फल नही देता है।

(३९) निर्हेतुक कृपा—तब क्या रथ के चक्र (पहिया) की तरह दैव और पुरूषाकार बराबर हैं? दैव जैसे आवश्यक है वैसे ही पुरूषाकार भी?

माया के लिए पुरुषकार की आवश्यकता है नहीं तो उसका कोई प्रयोजन नहीं है। जब दोनों का प्रयोजन है तब निर्हेतुक कृपा कैसे हो सकती है? निर् नास्ति हेतुर्यत्र स निर्हेतुकः (अकारणम्)। हेतुना सह वर्तमानः स हेतुकः (सकारणम्)। अतः भगवत् कृपा निर्हेतुक नहीं सहेतुक है। मान लीजिए कि एक संन्यासी किसी धनी के पास एक बार माँगने पर ही दो कम्बल और पहनने के लिये वस्त्र प्राप्त करता है। ऐसा होने पर यह कम्बल आदि की प्राप्ति निर्हेतुक है या सहेतुक? इस कलि काल में भी ऐसा आदमी नहीं मिलता है जो कहे कि इस कम्बल आदि की प्राप्ति का हेतु है अभाव ज्ञापन। अतएव उस धनी ने निर्हेतुक कृपा करके ही उस सन्यासी को कम्बल आदि दिया है यही कहना पड़ेगा। यदि कोई वस्तु एक लक्ष योजन और एक अंगुल की दूरी पर रहता है तो उसे एक लक्ष योजन दूर ही कहा जाता है कोई पागल भी यह नहीं कहता है कि एक लक्ष योजन एक अंगुल की दूरी पर है। वैसे ही पुरूषकार के बिना भगवत् कृपा की तुलना में मनुष्य की चेष्टा तुच्छ से भी तुच्छ और नगण्य है ऐसा मानकर उसकी गणना नहीं होती है।

जीवेश्वर-निर्णायकश्चतुर्थ परिच्छेदः

(४०) ब्रह्म—ब्रह्म कहने से परमात्मा का बोध होता है। परमात्मा क्या है, यह जीव के स्वरूप को जाने बिना ज्ञात नहीं होता है। ब्रह्म कहने से महत् का बोध होता है। वृहत्वात् ब्रह्म। अन्य धर्मों में ब्रह्मवाचक शब्द ही नहीं है। इसाई लोग भगवान को (God) कहते हैं। गड् शब्द का अर्थ क्या है यह ठीक संपता नहीं चलता है। प्रतीत होता है कि जिनकी पूजा करनी पड़ती है वे ही गड् हैं। मुसलमान लोग ब्रह्म न कहकर अल्ला कहते हैं। अल्ला शब्द का अर्थ त्राता है। जगदुत्पादक होने से अथर्ववेद में पर देवता (सर्वश्रेष्ठ देवता) समझाने के लिये प्रयुक्त हुआ है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। नेह नानास्ति किञ्चन।

जगत ब्रह्म की मूर्ति है। ब्रह्म के अतिरिक्त जगत में दूसरा कुछ भी नहीं है।

यह परिदृश्यमान सकल वस्तु ही (इदं सर्वम्) ब्रह्म है, इसमें सन्देह नहीं है (खलु)। इस जगत में (इह) कुछ भी अनेकता नहीं है।

पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये—श्रीमद्भागवतम्। —१०/२/२८

जो लोग अज्ञानी हैं वे ही अनेक देखते हैं। ब्रह्म = बृह् (वृहत् होना) + मनिन्। (विपरिश्चत् = ज्ञाणी) नाना = विविध भाँति। .

अहं विष्णुरयं विष्ण: सर्वं विष्णुमयं जगत्।

पद्मपुराणम्।

मैं विष्णु हूँ, यह लोक भी विष्णु है विष्णु के अतिरिक्त जगत में कुछ भी नहीं है।

त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वर:।

श्रीमद्भागवतम्—११/२८/६

जो विश्वात्मा (परमात्मा ब्रह्म) हैं वह स्वयं ही रक्षित होते हैं (त्रायते) स्वयं ही अपनी रक्षा करते हैं (त्राति)। ईश्वर ही चुराई हुई वस्तु हैं (ह्रीयते)। ईश्वर ही चोरी करते हैं। वे ही चोर, वे ही वस्तु और जिसका चोरी हुआ वह भी वे ही हैं। कारण—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। सर्वं विष्णुमयं जगत्।

इसीलिए कवि का कहना है—

हरि हे आपनि नाचो आपनी गाव हे हरि तुम स्वयं नाचो स्वयं गाव

आपनि बजाव ताले ताले। स्वयं बजाव ताल् लय में।

मानुष ता साक्षी गोपाल मनुष्य तो साक्षीगोपाल

मिछे आमि आमार बले।। झूठा ही मैं मेरा कहें।।

(४१) **साकार निराकार**—ब्रह्म का लक्षण क्या है? माया वश शास्त्रों में अनेक प्रकार कहा गया है।

निराकारं निर्विकारं सच्चिदानन्दलक्षणम्।
अनिरूप्य स्वरूपं यत् अवाङ् मनसगोचरम्।।

ब्रह्म निराकार निर्विकार है। उसका आकार नही है और वह इच्छा आदि विकारों से रहित है। वह एकमात्र सद्वस्तु (सत्), एकमात्र चेतन (चित्) और एकमात्र आनन्दमय है। उनका स्वरूप क्या है किसी प्रकार से भी निश्चय नहीं किया जा सकता है। (कारण) वह वाणी और मन से अगोचर हैं। श्लोक के प्रथमार्द्ध में जो कहा गया है वह लक्षण द्वितीयार्ध में कहे गये लक्षण के द्वारा निराकृत (खण्डित) कर दिया गया है। जो वाणी से कहा नहीं जाता, जिसकी मन से धारणा नहीं की जा सकती, जिसके स्वरूप का निर्णय नहीं किया जाता, उसे निराकार कहकर कैसे निर्देश किया जाय? उसको निर्विकार कैसे कहा जाय? वह सच्चिदानन्द रूप है ऐसा कहने से उसका स्वरूप निरूपण तो हो ही गया। तब अनिरूपणीय स्वरूप वह कैसे रहा? जिसका स्वरूप निर्णीत होता है वह ब्रह्म नहीं है। जो बुद्धिगम्य है वह ब्रह्म नहीं है। जो वाक्य द्वारा उक्त होता है वह ब्रह्म नहीं है। यही माया का खेल है। इसी से त्रिपाद विभूति महानारायणोपनिषद् का कहना है।

परब्रह्मणः परमार्थतः साकार निराकारी स्वभावसिद्धौ।

परब्रह्म सचमुच में (परमार्थतः-यथार्थतः) साकार और निराकार है यही स्वभावसिद्ध है। क्योंकि—

केवल-निराकारस्य परब्रह्मणो गगनस्येव जडत्वामापद्येत।

(त्रिपाद् विभूति महानारायणोपनिषद्)

केवल निराकार होने पर ब्रह्म आकाश (स्पेस) के समान जड़ हो जायगा अर्थात् अस्तित्व मात्र रह जायगा कुछ काम नही कर सकता।

आपद्येत — (आ + पद + ईत प्राप्त होता है।)

(४२) **ईश्वर**—साधारणतः निराकार ब्रह्म को ब्रह्म और साकार ब्रह्म को ईश्वर, इत्यादि कहते हैं।

(४३) **जीव**— जिसका जीवन है उसको जीव कहते हैं। अतः जीवमात्र ही प्राणी और प्राणीमात्र ही जीव है। जीवमात्र ही ईश्वर का प्रतिमूर्ति हैं।

प्रतिविम्बा एव जीवा इति कथ्यन्ते। (त्रिपाद विभूति) ईश्वर के प्रतिविम्ब को जीव कहते है।

पाश्चात्य सभ्यता में एक वाक्य की सृष्टि हुई है। वह यह है (Universal brotherhood) विश्वजनीन भ्रातृत्व। अर्थ— समस्त विश्व को छोड़कर केवल मनुष्य ही मनुष्य का भाई है। यह कितनी बड़ी धूर्तता है यह नाम से प्रगट है। किसने कब सुना है कि Universe विश्व कहने से केवल मनुष्य को बोध होता है? मनुष्य भाई-भाई कैसे हुआ? यदि कहो कि गीता में ही तो कहा गया है—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।

ठीक है, किन्तु पिता के साथ-साथ माता का भी तो उल्लेख है। एक ही वस्तु पिता भी और माता भी कैसे हो सकता है? यदि कहो कि पिता माता में प्रभेद क्या है? मान लिया। किन्तु, क्या इसी से पिता माता और पितामह तीनों ही एक होंगे? तब भगवान श्रीकृष्ण ऐसा कहते क्यों है? वे पिता के तुल्य, माता के तुल्य, पितामह के तुल्य अर्थात् परम बन्धु हैं।

विश्वजनीन भ्रातृत्व जो केवल धूर्तता है यह उसके नाम से ही जान पड़ता है। भ्रातृत्व का बहाना कैसा प्रचंड मिथ्यावाद है यह बहानावाजों के राक्षस सदृश्य मांस भोजन के द्वारा ही प्रतीत होता है। अतएव विश्वजनीन भ्रातृत्व को भक्ष्य-भ्रातृत्व खाद्य-खादक भ्रातृत्व अथवा मांसाद-भ्रातृत्व कहना ही उचित है। हिन्दू मात्र ही यह समझता है। और किसी की भी समझने की शक्ति नहीं है।

भ्रात्रष्टकम्

सब मनुष्य हैं भ्राता भ्राता।
अन्य प्राणियों से है क्या नाता।।१
धरो मारो पेट में भरो।
तब जीवन को सफल करो।।२
हिंसक निष्ठुर नहीं होने से।
भाई भाई मानव कैसे।।३

ज्ञानी कहे जीव सब एक।
आँखें हो तो अपने देख।४
जो है राम वही है श्याम
वही यदु है बलराम।।५
वही व्याध है वही साँप है।
वही वृक्ष पत्थर प्रताप है।।६
मारकर बाघ व मारकर पक्षी।
बेटा खूनी है परम सुखी।।७
इसकी दशा सभी मिल देखो।
मानव भाई कभी न भाखो।।८

यदि कहो कि बाघ साँप प्रभृति तो भगवान की ही मूर्ति हैं तो इन्हें स्त्री पुत्र के समान अपना क्यों नहीं बनाया जाता है। उत्तर—मायावश वे सब जैसे अपने हैं वैसे ही पराये भी हैं। अतएव उनको अपनाना भी पड़ेगा और पराया भी बनाया जायगा। उनको कभी भी हिंसा अर्थात् वृथा क्षति नहीं करनी चाहिये और आत्मरक्षाके लिये उनका बध भी किया जा सकता है।

मोदेत साधुरपि वृश्चिक-सर्प-हत्या।

साधु पुरूष भी अपनी रक्षा के लिये विच्छू और सर्प को मार कर प्रसन्न होते हैं। प्राण रक्षा के लिये मारा जा सकता है ऐसा कह कर शिकार के लिये मारना महापातक है। काला सर्प मारा जाता है इसलिए धामिन साँप नहीं मारना चाहिये।

यः प्राणिहिंसको मर्त्यः सः एव हरि हिंसकः।

—पद्मपुराण।

जो मनुष्य जीवों की हिंसा करता है वह श्रीहरि की ही हिंसा करता है अर्थात् वह हरिद्रोही है। राजद्रोही की अपेक्षा वह कोटिगुणा अपराधी है।

जीव ईश्वर में भेद है। मायावश भेद नहीं हैं।

जीवः शिवः शिवोजीवः स जीवः केवलः शिवः।
तुषेण बद्धोब्रीहिः स्यात् तुषाभावेन तण्डुलः।। स्कन्दो०।।

जीव ही शिव (ईश्वर) और शिव ही जीव है। जीव केवल शिव है और कुछ नहीं। जैसे धान और चावल। छिलका लगे रहने पर धान कहलाता है और छिलका हटा देने पर चावल। यह तुष (छिलका) ही माया है। इसके द्वारा ही धान चावल से पृथक होता है। वैसे ही माया-मुक्त ईश्वर है और जीव माया के अधीन हैं। (तुषेण बद्ध)

(४४) **भेदाभेद—'एकोऽहं बहु स्याम्''** इस इच्छा के कारण ही भेद की सृष्टि हुई है। सृष्ट पदार्थ मात्र ही भगवान की प्रतिमूर्त्ति है अतः सब एक है। इसलिये भेद है भी और नहीं भी है। यही माया का खेल है। जो भेद को अस्वीकार कर अभेद मानता वह भगवत्द्रोही है— ''बहु स्याम्'' विरोधी है। जो केवल भेद ही देखता है, भिन्न होने पर भी यथार्थ में एक है ऐसा नहीं देखता है उसका नरकवास अनिवार्य है। तो भी जो प्रथम ही भेद को स्वीकार करता है, जो एकाकार का परम शत्रु है, जो जातिभेद छुआछूत और आचार को अङ्ग का भूषण बनाता है और साथ ही साथ अभेद दर्शन भी करता रहता है, वही प्रकृत ज्ञानी है, वही यथार्थ भक्त है और वही श्रीहरि का यथार्थ प्रिय है।

भेदाभेदमयं विश्वं भेदः कार्य सदैव हि।
अभेददर्शनं भेदे परमं ज्ञानमिष्यते।।*

यह विश्व (संसार) भेदाभेदमय है। भेद के द्वारा ही जगत् की उत्पत्ति हुई है अतएव सदा ही भेद करना चाहिये। भेद के भीतर अभेद मिला हुआ है। अतः भेद के भीतर अभेद देखना यही परम ज्ञान है।

(४५) अधिकार—अधिकार कहने से योग्यता या सामर्थ्य का बोध होता है। सभी विषयों में सारे मनुष्यों का एक सा सामर्थ्य या योग्यता नहीं होता है। इसे नहीं जानता है ऐसा कोई मनुष्य ही नहीं है। अधिकार = अधि (अत्यस्तन्) + कृ + घञ।

गुणदोष—अधिकार के पालन को ही गुण और उसके उल्लंघन को ही दोष कहते हैं।

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यात् उभयोरेष निर्णयः।।

अपने-अपने अधिकार में निष्ठा को गुण कहते हैं। इसके विपरीत को दोष कहते हैं। गुण और दोष के ये ही लक्षण हैं। निष्ठा = नि + स्था + अ—निजवाचनेस्थितिः— अचल अटल रहना। मनुष्य का ऐसा तुरन्त अहंकार कि सब की योग्यता समान नहीं है इस सर्वजन विदित दुर्लघ्य सत्य का भी अपलाप करने में कलिकाल का मनुष्य कुण्ठित नहीं होता है। मनुष्य की जैसी योग्यता अपेक्षित है वैसे ही पदार्थ मात्र की योग्यता आवश्यक है। कौन नहीं जानता है कि आँख सुनती नहीं है और कान देखते नहीं हैं, मस्तक पकड़ता नही है और हाथ सूघता नही है इत्यादि।

कौन नहीं जानता है कि राजा न होने पर राजसिंहासन पर बैठ नहीं सकता है, विचारक न होने पर विचारक के आसन पर नहीं बैठना चाहिए, पुलिस कर्मचारी न होने पर पुलिस के साजमें नहीं सजना चाहिये।

अधिकार की बात बहुत बड़ी और आवश्यक है। इसीलिये कलि के जीव सबके अधिकारों को अस्वीकार करते हैं।

हरिणा हन्यते हस्ती हरिणेन कदापि न।

हरि (सिंह) और हरिण सुनने में करीब एक प्रकार का ही है तो क्या इसी से हरिण सिंह के समान हाथी का बध कर सकता है वैसे ही मनुष्य मनुष्य देखने में एक समान है किन्तु इसी से क्या जो आप्त पुरूष कर सकते हैं वही सर्वसाधारण भी कर सकता है? मनुष्य-मनुष्य में अनेक भेद है, जैसे राजा और कृषक बाहरी दृष्टि से। यह भी हो सकता है राजा नरक का अधिकारी ही ओर कृषक मुक्ति का। मायावश कभी गुण ही दोष और दोष ही गुण हो जाता है।

क्वचिद् गुणोऽपि दोषः स्याद्दोषोऽपि विधिना गुणः।
गुण दोषार्थ नियमस्तद्भिदामेव वाधते।।

श्रीमद्भागवतम् ११/२१/१६

कभी गुण ही दोष होता है और विधि कभी दोष को गुण बना देते हैं? गुण दोष के नियम, जो गुण दोष में प्रभेद करते हैं वक्त उन्हीं को वाधा दे सकता है। जो गुण दोष को समान दृष्टि से देखते हैं उनके आगे गुण दोष की वाधा उपस्थित नहीं होती है।

(४६) **मनुष्य धर्म पृथक है**—मनुष्य का देह जैसे पृथक है वैसे ही उसका धर्म भी पृथक है। बाप का शरीर और बेटा का शरीर एक नही है केवल सादृश है। भाई-भाई के देह बहुत अंशो में एक समान होने पर भी दोनों देह एकदम भिन्न हैं। ठीक इसी प्रकार बाप से बेटे का देह भिन्न है, भाई-भाई के लिए तो कहना ही क्या है।

इसी से क्या बाप और बेटे के धर्म कुछ मिलते नहीं है? फिर भी माया आकर उत्तर देती है कि एकदम भिन्न होने से भी बिलकुल एक है। पिता और पुत्र का धर्म ऐसा एक है कि स्वयं भगवान ने—

'यथायोनि यथा बीजं स्वभावेन बलीयसा' के कारण ही

पुत्र को इसी पिता का पुत्र बनाया है। इसी से बाप हिन्दू सो बेटा भी हिन्दू, पिता ब्राह्मण तो पुत्र भी ब्राह्मण इत्यादि। कौन नहीं जानता है कि पिता के समान ही पुत्र होता है। तथापि भेद रहता है।

वैदिक का पुत्र वेद पढ़ता है।

चूहे का बच्चा मिट्टि कोढ़ता है।

मानव प्रकृति भिन्न होकर भी एक है। जैसे सभी सुख में सुखी दु:ख में दु:खी होते हैं सभी भोजन करके जीते हैं। मल मूत्र का त्यागकर शरीर की रक्षा करते हैं इत्यादि। मायावश ही मनुष्य को दूसरे के साथ एक भी होना पड़ता है और भिन्न भी। जिस अंश में मेल है उस अंश में एकता और जिस अंश में मेल नहीं है उस अंश में अपने अधिकार में रहकर एकदम भिन्न होना होगा।

(४३) **विधर्मीकरणम्** (conversion)—अधिकार का ज्ञान न होने पर ही सब लोग अपने-अपने धर्म में खींचकर लाने का प्रयास करते हैं। ईसाई चाहता है कि सब ईसाई हो जायँ और ईसाई के अहंकार को पुष्टकर नरक

का मार्ग सुगम हो। वैसे ही मुसलमान सबको मुसलमान बनाना चाहता है। केवल हिन्दू जानता है कि जिस धर्म में कल्याण होगा, श्री भगवान ने उसी धर्म में उसका जन्म दिया है। अतः धर्म परिवर्तन सर्वदा ही अत्यन्त विगर्हित है।

''स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावहः ।।''

अपने धर्म में रहकर प्राण त्याग देना भी उत्तम है किन्तु पराया धर्म सर्वदा भयावह है अर्थात् भयंकर कुफल देता है। इसी से जो जन्म से ही मुसलमान है वह सर्वदा मुसलमान धर्म में ही रहेगा। वैसे ही इसाई-इसाई और पारसी-पारसी रहेगा इत्यादि। अत्यन्त मिश्र कर्मों के फल से ही इस नियम में कदाचित् परिवर्तन होता है।

सापवादा हि विधयः

विधि (नियम) होने से ही उसका अपवाद (व्यतिक्रम) लंघन होगा यही माया का कार्य है। यही अधिकार का महत्व सिद्ध करता है।

कर्मफलादि नामकः पञ्चम परिच्छेदः

(४८) कर्मफल— मनुष्य जो कर्म करता है उसका फल उसे भोगना ही पड़ता है। फल अविनाशी है। बिना भोगे कटता नहीं है (बिना भगवत् कृपा के)

नाभुक्तं क्षोयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

मद्भक्तया तद् बहुः स्वल्पं विपरीतमभक्तिः ।।

पद्मपुराणम्।

भोग बिना (अभुक्त) कर्म का क्षय नहीं होता है (न क्षीयते) केवल एक जन्म में ही नहीं। एक सृष्टि में नहीं। शतकोटि बार प्रलय होने पर भी बिना भोगे कर्म का नाश नहीं होता है। प्रलय के पश्चात् भी वह कर्म जैसे का तैसा बना रहता है। मृत्यु के साथ-साथ प्रत्येक का कर्म उसके कन्धे पर सवार हो जाता है। केवल मेरी भक्ति के द्वारा वह बहुत होने पर भी थोड़ा से भी थोड़ा हो जाता है और भक्ति के अभाव में थोड़ा भी

बहुत हो जाता है। अर्थात् भोग के बिना कर्म का क्षय नहीं होता है। केवल श्रीहरि की कृपा से ही कर्म क्षय हो सकता है।

इतनी सहज बात को भी जगत में कोई धर्म नहीं जानता है। वस्तु का अविनाशित्व, अनश्वरता, श्वाश्वतता सनातन है। वस्तु के अविनाशत्व को (Principle of Conservation) विज्ञान को भी मानना पड़ा है। शक्ति का नाश नहीं है (Conservation of Energy) । बल का नाश नहीं है (Conservation of Force) । पदार्थ का नाश नहीं है (Conservation of Matter)। सायन्स (पाश्चात्य विज्ञान) भी घूमा-फिरा कर स्वीकार करता है कि, कर्म का नाश नहीं है। किन्तु ऐसा कहने का तो उपाय नहीं है क्योंकि, यह ऐसा कहने पर वह धर्म हो जायगा।

(४९) **सञ्चित कर्मफल**—सभी देखते हैं कि मनुष्य के सारे कर्मों का भोग उसी देह में नहीं होता है। अतः स्पष्ट है कि बाकी कर्मों का भोग पीछे होता है। उसी अभुक्त कर्म को ही सञ्चित कर्म कहते हैं। एक जन्म में भोग न होने पर जो कर्म शेष रह जाते हैं उन्हीं को सञ्चित कर्मफल कहते हैं।

(५०)**पुनर्जन्म**—सञ्चित कर्मफल के भोगने के लिए दूसरे जन्म का प्रयोजन होता है। नहीं तो अभुक्त ही रह जाता है। अतएव पुनर्जन्म अनिवार्य है। इस स्थूल बात को कोई भी धर्म नहीं समझता है। बहुतेरे ही कहते हैं कि मनुष्य मर कर कब्र में वास करता है। सुदीर्घ काल के पश्चात् सृष्टि के अन्त में ईश्वर के बुलाने पर वे सब कब्र से उठकर ईश्वर के पास जाते हैं। उस समय उनके कर्मफल का विचार होकर उसका भोग होता है। इसमें भुक्त अभुक्त का भेद नहीं किया गया है। पुनश्च सुदीर्घकाल तक कब्र में अकेले वास करने का कोई भी कारण देखने में नहीं आता है।

(५१) **प्रारब्ध**—कर्मफल इकट्ठा होते होते इतना जमा हो जाता है कि किसी एक जन्म में सम्पूर्ण भोगा जा सके ऐसा संभव नहीं है। अतएव सञ्चित कर्म में से थोड़ा-थोड़ा लेकर एक एक जन्म में भोग होता है।

जितना अंश लेकर जीव जन्म ग्रहण करता है सञ्चित कर्म के उस अंश को ही प्रारब्ध कहते हैं। इससे जान पड़ता है कि यह प्रारब्ध बड़ा ही दुर्बार है अर्थात् उसे रोका नहीं जा सकता है। पुरुषकार के द्वारा प्रारब्ध का खण्डन नहीं किया जा सकता है। अहंकार में विभोर होकर मूढ़ मनुष्य यह समझता है कि प्राब्ध को काट देना बड़ा सहज है। एक ब्राह्मण मूर्ख एवं कुकर्मों का आचरण करनेवाला है और एक अन्त्य अस्पृश्य विद्वान सुकर्म करनेवाला है। अतएव इस ब्राह्मण की अपेक्षा वह अस्पृश्य बहुत गुणा श्रेष्ठ है। मुग्ध मनुष्य एकबार सोचता नहीं है कि, कर्मफल के कारण ही यह ब्राह्मण ब्राह्मण हुआ है, वह प्रारब्ध कहाँ गया उसका नाश कैसै हुआ, उसका परिवर्तन किसने किया? श्रीभगवान ने भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालों को देखकर ही उनका जन्म ठीक किया है। अर्थात् उस जीव का संचित कर्म कैसा है, कितने प्रारब्ध का भोग कर सकेगा, पुरुषकार के द्वारा इस जन्म में वह क्या कर सकेगा, यह समस्त विचार कर ही श्रीभगवान जन्म दिया करते हैं। ब्राह्मण मूर्ख और कुकर्म करने वाला होगा इसे उन्होंने जानकर ही तो उसे ब्राह्मण जन्म दिया है? और अस्पृश्य जो विद्वान और पुण्यकर्म करनेवाला होगा यह भी जानकर एवं समझकर ही उसे अस्पृश्य बनाया है। ऐसा होने पर क्या कहना होगा कि अभ्रान्त ईश्वर का विचार भ्रान्त है और विभ्रान्त काठ के पुतले मनुष्य का विचार ही ठीक है? धन्य है मोह और धन्य है अहंकार।

यदि पूछो, तब इस विषम वैषम्य का कारण क्या है? उत्तर—मिश्रकर्म। जैसे करोड़पति का एकमात्र एक विना एक पैसा भी उपार्जन किये भी यदि महीने में ८००० रू० व्यय करता रहे, तो भी ८० बर्षों में भी उसके रूपये समाप्त नहीं होंगे। तब भी २३ लाख से अधिक बचा रहेगा। यदि एक दूसरे आदमी पर एक करोड़ रू० ऋण है एवं वह यदि महीने में ८००० रू० उपार्जन करता हो तथा उसमें से कृपण की भांति ५०० रू० खर्च करता है, ऐसा होने पर ८० बर्षों में भी वह ऋण नहीं चुका सकता है। इन दोनों व्यक्तियों में किसकी अवस्था अच्छी है?

जिसका एक करोड़ मात्र था। मासिक व्यय ९०००। मरते समय २३ लाख रू० बच जाते हैं।

जिस पर एक कोटि रू० का ऋण हैं, आय है ८००० रू० आठ हजार। मासिक व्यय है ५०० रू०। मरते समय २८ लाख का ऋण उस पर रह ही जाता है।

इन दोनों जनों में पहला मूर्ख दुष्टकर्म करनेवाला ब्राह्मण सन्तान, दूसरा है विद्वान शुभकर्म करनेवाला वर्णवाह्य सन्तान।

(५२) **जन्ममृत्यु**—जीव का जन्म और मृत्यु इस अलंघ्य प्रारब्ध के कारण ही हुआ करता है। आज भी इस कलियुग के दुर्दिन में, जब शास्त्र आदि सब लुप्त प्राय हैं जब कि ज्योतिष शास्त्र नहीं है ऐसा कहा जा सकता है, अब भी अनेक समय में जन्म-मृत्यु ठीक-ठीक बताया जा सकता है। अतः प्रारब्ध जो अलंघनीय है यह स्पष्ट ही प्रमाणित होता है शास्त्र में कहा है—

लब्ध्वा निमित्तमव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तं भवत्युत।

यथा योनि यथा अजं स्वभावेन बलीयसा।। श्रीमद्भागवतम्।

अव्यक्त कारण (निमित्त) के वशः अर्थात् प्रारब्ध वश जीव व्यक्त होता है (जन्मग्रहण करता है)। यह जन्म योनि और बीज के अनुसार होता है, अर्थात् जिससे इस जीव के प्रारब्ध का ठीक-ठीक भोग हो सके, ऐसी ही माता (योनि) और वैसे ही पिता (बीज) से वह जन्मलाभ करता है। यही बलवान् स्वभाव का कार्य है। (स्वभाव-प्रारब्ध)।

कर्मफल तीन प्रकार के हैं—(१) क्रियमाण- जो इस जीवन में किया जाता है (२) सञ्चित, और (३) प्रारब्ध। इन तीनों में प्रारब्ध कर्मफल ही बड़ा भयानक प्रबल है। यह किसी भाँति भी मिटता नहीं है। भगवान के विशेष अनुग्रह होने पर ही कटता है, नहीं तो कटने का उपाय भी नहीं है। सञ्चित कर्मफल इसकी अपेक्षा सौगुणा सहज ही मिट जाता है।

(५३) **अशीति लक्ष योनि**—संसार में घूमते-घुमते जीव अस्सी लाख

योनियों में जन्मग्रहण करता है। एक ही जीव कभी मनुष्य, कभी पशु, कभी पक्षी, कभी अन्य प्राणी, कभी वृक्ष, कभी पत्थर योनि में जन्म-ग्रहण करता है। अतः जड़ और चेतन में वास्तविक भेद नहीं है। पुनश्च मायावश उनमें भेद है।

जो है राम वही है श्याम
वही यदु है वही बलराम
वही बाघ है वही सर्प है।
वही वृक्ष पत्थर भी वही है।।

इन अशीति लक्ष योनियों में जीव असंख्यवार जन्म लेता है। जब तक मुक्त नहीं होता है तब तक संसार में घूमता है।

(५४) **भोग देह और कर्म देह**—यह अस्सी लाख देह ही भोग देह है। केवल मनुष्य देह ही कर्म है। जिस देह से केवल प्रारब्ध कर्म का ही भोग होता है पुरूषकार के द्वारा नवीन कर्म नहीं किया जाता है, उसी देह को भोग देह कहते हैं। जिस देह के द्वारा प्रारब्ध कर्मों का भी भोग होता है और पुरुषकार के द्वारा नये कर्मों का भी सम्पादन होता उसको कर्म देह कहते हैं।

अतः मनुष्य के अतिरिक्त कोई भी तर नहीं सकता है। जीव का समय जब तरने का होता है तभी श्रीभगवान उसे मनुष्य जन्म देते हैं। इस मनुष्य जन्म को भी पाकर जो मोक्षलाभ नहीं करता है उसको आत्मघाती जानना चाहिये।

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरु-कर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा।।

मनुष्य देह सर्वश्रेष्ठ (आद्य) है, किन्तु जैसा सुलभ है वैसा ही अत्यन्त दुर्लभ भी। उसकी प्राप्ति के लिये प्रयास नहीं करना पड़ता है (सुलभ), किन्तु अशीति लक्ष योनियों में घूमते-घूमते कदाचित् मनुष्य जन्म मिलता

है (अतएव सुदुर्लभ) है। यह मनुष्य देह सहज मे ही भवसमुद्र को पार कर सकता है। उस नौका के गुरू ही कर्णधार (मल्लाह) और तेरी कृपा ही अनुकूल वायु होकर इस नौका को प्रचलित करती है। इससे भी जो मनुष्य भवसागर को पार नहीं कर सकता है वह मनुष्य आत्मघाती है। मनुष्य भिन्न कोई भी जीव तर नहीं सकता है। तरने के लिये ही जीव मनुष्य होकर जन्म लेता है। जो तर नहीं सकेगा वही जीव मनुष्य से भिन्न जन्म ग्रहण करता है। किन्तु अनुभवी पुरूष के कृपा-कटाक्ष होने पर भोगदेह में पशु-पक्षी तर जाते हैं।

यस्यानुभवपर्य्यन्ता बुद्धिस्तत्वे प्रवर्तते।
तद्दृष्टि-गोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः।।
खेचराः भूचराः सर्वे ब्रह्मविद् दृष्टिगोचराः।
मुच्यन्ते सर्व पापेभ्यः कोटि जन्मार्जितैरघैः।।

जिसकी बुद्धि तत्वविषय में अनुभव पर्यन्त अग्रसर हुई है अर्थात् जो अनुभवी पुरूष हैं, जो भगवान को नित्य अनुभव करते हैं उनके दृष्टिगोचर होने पर सभी सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। क्या पक्षी (खेचर) क्या पशु (भूचर) ब्रह्मविद् के दृष्टिगोचर होने से ही उसी क्षण पूर्व के कोटि-जन्मार्जित पापों छूट कर मोक्षलाभ करते हैं।

—०—०—०—

शास्त्रार्थ

आवश्यक निवेदन

माता, पिता, गुरूजन, भाई, बन्धु, पति, पत्नी, पुत्र आदि से भी अधिक हितकारी शास्त्र है। समय पर शास्त्र ही उचित मार्ग प्रदर्शन करता है। जीवन की जटिल समस्याओं में संशय की निवृत्ति शास्त्र के द्वारा ही होती है। शास्त्र से ही परोक्ष अर्थ तथा भगवान को प्राप्ति होती है। वस्तुतः शास्त्र ही सब के नेंत्र हैं। शास्त्र जिसके पास नहीं वह अन्धा ही है।

अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।

सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः।।

शास्त्र शासन करता है। शास्त्र वस्तु का बिवेचन करता है। क्या करना चाहिये। क्या नहीं करना चाहिये। इन प्रश्नों पर जो जितना बड़ा है उसके सामने उतना बड़ा संकट उपस्थित होता है। इसमें बुद्धिमान जन शास्त्र के अनुसार कर्तव्य निधारण कर लोक-परलोक दोनों में अपना कल्पना साधन करते हैं।

ऐसे परम हितकारी शास्त्र को उड़ा देने के लिये अथवा शास्त्रकी उलटी (विपरीत) व्याख्या करने के लिये जो आधुनिक सुधारक प्रवृत होते हैं उनके कुर्तकों पर ताला लगा देने के लिये यह छोटा सा निबन्ध अ०भा० शास्त्र धर्म प्रचार सभा और 'ट्रूथ' पत्र के प्रतिष्ठाता श्रीमदुपेन्द्रमोहन ही द्वारा अंग्रेजी में प्रकट किया गया था। उसका यह हिन्दी रुपान्तर उनके जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में विद्वानों के लिये विशेष आनन्द प्रद होगा।

-: निवेदक :-

मन्त्री
अ०भा० शास्त्र धर्म प्रचार सभा
९१ चौरंगी, कलकत्ता-२०

श्रीगोपालदत्त शास्त्री
सम्पादक-सुदर्शन
आरा [बिहार]

श्री हरिः

शास्त्रार्थ

शास्त्र-विद्वेष का कारण क्या है?

१. आजकल शास्त्र की नई व्याख्या देने के लिये पापिष्ठगण उत्तेजित हुए हैं क्यों कि शास्त्र ही लम्पटता का प्रधान बाधक है। परन्तु ये व्याख्याकारीगण एकबार भी नहीं सोचते—

'विचारार्हं सदा वस्तु सन्दिग्धं सप्रयोजनम्।'

२. शास्त्र की जिस व्याख्या से पितृ पितामहगण शत-शत बर्षों से परम सन्तुष्ट रहे है आज अचानक इन पापिष्ठगणों को वह भ्रमयुक्त प्रतिभात हुआ क्यों? आधुनिक व्याख्या कारीगणों ने कैसे समझ लिया कि उनके पूर्वज मूर्ख थे तथा उन्होंने किस प्रकार जान लिया कि जातिभेद, अस्पृश्यता प्रभृति से प्रारम्भ कर कर्मफल, सङ्ग, माया, विश्वास प्रभृतिमें विश्वास रख ये बृद्धजन घोर पापमें लिप्त हुये थे? इन व्याख्याकारिओं ने किस प्रकार अपने को सर्वज्ञ तथा अपापबिद्ध समझ लिया है एवं किस प्रकार उन्होंने समझ लिया कि वे सभी एक-एक अवतार है अत: शास्त्र उनके निकट क्षुद्र क्रीड़नक (खिलौना) मात्र है?

३. मनुष्य जीवन के उद्देश्य एवम् उँचे आदर्श से मनुष्य जितना ही विच्युत होता जाता है शास्त्र बन्धन भी उसे उतना ही अधिकतर यन्त्रणा-दायक प्रतीत होता है, और उस बन्धनसे येन केन प्रकारेण मुक्ति पाने के लिये वह उतना ही व्यस्त होता है। अथवा अन्ध अनुकरण को ईप्सा (वासना) इतना भयंकर है कि दुर्नीति ही नीति जैसी प्रतिभात होती है कारण यह कि मनुष्य तब अपनी दृष्टि शक्ति खो बैठता है, उसकी बुद्धि विकृत हो जाती है, तथा अन्याय को न्याय एवं न्यायको अन्याय समझता है। अथवा मूर्खकी भाँति अन्ध अनुकरण केवल तभी सम्भव है जब मनुष्य उनके विचार तथा मनुष्यत्वको पूर्णतया विसर्जन दे सके। शास्त्र कहते हैं—

''सर्वं कार्यवशात् सदाभिरमते कास्यास्ति को वल्लभः।''

जिसकी जैसी मनोभिलाषा है वह उसी प्रकारसे कार्य ही करता रहता है। संसार में निर्हेतुक प्रेम कहीं नही है। जितना ही वज्रमुर्ख क्यों न हो विना प्रयोजन कोई भी किसी प्रकार का कार्य नही करता है।

प्रयोजनं विना कार्ये मन्दोऽपि न प्रवर्तते।

४. शास्त्र वन्धन छिन्न करने के दो उपाय है नास्तिकता तथा विज्ञान की दुहाई देकर तथा ज्ञानका ढोंग रचकर शास्त्रके विरुद्ध नग्न विद्रोह। यद्यपि दैनन्दिन जीवनके मतिसामान्य विपत्तिमें भी विभ्रान्त हो जाते हैं तथापि वे आपकी अज्ञात एवं अज्ञेय वस्तु के अति सूक्ष्म ज्ञान का अधिकारी एंसा प्रकट करने में लज्जित नहीं होते (नही सकुचाते)। दूसरा उपाय है शास्त्र विश्वास का मिथ्या अभिनय कर (ढोंग रचकर) निज-निज विकृत रुचि के अनुसार शास्त्र का कदर्प करना।

अधिकार

५. परन्तु गणित तथा विज्ञान के अति सामान्य प्रश्न का उत्तर करने में व्याख्याकारीगण जब असमर्थ होते हैं तभी इन दुष्टों की धृष्टता तथा मिथ्या स्पर्धा प्रकट हो जाती है। पापिष्ठगण स्वीय क्षमता कितनी स्वल्प एवं सीमाबद्ध है जानते हुये भी नहीं समझते। अपितु अनन्त अनुकरण बुद्धि के बलपर देश एवं देशवासिओं के उपदेष्टा बनने की धुष्टता त्याग नही कर पाते। वे विस्मृत होते हैं कि—

हरिणा हन्यते हस्ती हरिणेन कदापि न।
जम्बूकाः परिभूयन्ते स्वभिरूग्रैस्त्वजैर्नहि।।

सिंह हाथी को मार सकता है, किन्तु हरिण ऐसा नहीं कर सकता-यद्यपि उनके नाम में सादृश्य है (हरि और हरिण)। श्रृगाल (सियार) का बध केवल उग्र कुत्ता हो कर सकता है छाग (बकरा) नहीं—जिसे श्रृगाल खा जाता है।

६. बुद्धिकी स्वल्पता वशतः तथा पाप के प्रवल प्रभाव से वे भूल जाते हैं

कि संसार में प्रत्येक वस्तु स्व स्व अधिकार द्वारा सीमावद्ध है। नेत्र निरीक्षण करनेमें ही समर्थ है श्रवण करने में नहीं कर्ण श्रवण करता है—किन्तु देव नही सकता। मस्तक उत्ताङ्ग होने के कारण ही ग्रीवा (गर्दन) के ऊपर राजा बनकर बैठा है। गर्दन वेचारा उसे बहन करता फिरता है, मुख भोजन करता है परन्तु पाचन कार्य करती है पाकस्थली। क्या जीव का देह कभी स्व स्व अधिकार के विरुद्धाचरण करने की चेष्टा, करता है?

७. मनुष्य के स्वीय अधिकार लङ्घन करने के समान और कोई पाप नही है।

स्वे स्वेधिकारे यानिष्ठा सगुणः पारिकीर्तितः।

विपर्यवस्तु दोषः स्यात् उभपोरेष निर्णयः।।

स्व स्व अधिकार में निष्ठा ही गुण तथा उसके विपरीत आचरण किये जाने में दोष है। दोष तथा गुण के यही संज्ञा है।

इसी पर प्रभाव डालते हुये भगवान श्रीकृष्ण, गीता में कहते हैं—

श्रेयान स्वधर्मों विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।

स्वधर्म यदि दुष्ट भी हो तथापि उत्तम रूप में अनुष्ठित स्वधर्म, परधर्म की अपेक्षा श्रेय है। अपने धर्म में दृढ़ (अडिग) रहते हुये यदि मृत्यु वरण करना हो तो भी श्रेष्ठ है। दूसरे का धर्म सदैव भीति जनक है।

८. इस अधिकार के प्रति शास्त्र की दृष्टि इतनी ही प्रखर है कि इसी कारण वशतः मोक्षलाभ का अति सरल उपाय ही वस्तुतः सब के लिये निषिद्ध है। उपनिषद् कहते हैं—

सर्वोंपनिष्ठां मध्ये सारम अष्टोत्तरशतम्।

सकृच्छ्वणायात्रेण सर्वाधौधनिकृन्तनम्।।

सकल उपनिषदों में १०८ सार हैं। उनके एकबार (श्रुत होने पर) श्रवण करने पर ही मनुष्य के सकल पाप नष्ट हो जाते हैं।

९. एवम वही शास्त्र पुनः कहते हैं—

इदम् अष्टोत्तरशतम् न देयं यस्य कस्यचित्।
नास्तिकाय कृतघ्नाय दुराचाररताय वै।।
मद्भक्ति विमुखायापि शास्त्रगर्तेषु मुह्यते।
गुरुभक्तिविहीनाय दातव्यं न कदाचन।।

इन १०८ उपनिषदों को कतिपय विशिष्ट व्यक्ति (सज्जन) के सिवाय किसी को न दिया जाय। नास्तिक, विश्वासघातक दुराचारी अभक्त, शास्त्र (रूपा) गर्त में पतित तथा गुरुभक्तिहीन व्यक्ति के हाथ इन्हें कभी न दिया जावे। अर्थात् इन १०८ उपनिषदों के पाठ या श्रवण करने पर सर्वपापों से मु क्ति सम्भव है, परन्तु उनके पूर्व अपनी योग्यता अथवा अधिकार की प्रतिष्ठा करने का प्रयोजन है।

शास्त्र व्याख्याकारिओं के अधिकार

१०. अच्छा, अब देखा जाय आधुनिक शास्त्र-व्याख्याकारियों का शास्त्र में क्या अधिकार है। शास्त्र तथा देवभाषा संस्कृत में अज्ञता ही उनका सर्वप्रथम अधिकार है कारण यह कि आधुनिक नियमानुसार जो जिस विषय में जितना अज्ञ है। उसका उसी विषय में कतृत्व करने का अधिकार उतना ही अधिक है। युगधर्मानुसार अज्ञता (अज्ञानता) ज्ञान का जनक है तथा ज्ञान ही अज्ञान का जनक है।

११. उनका द्वितीय—दूसरा अधिकार है—अन्य अनुकरण की प्रवृत्ति (लालसा) तथा अहंकार। कारण फैशन के (क्रीत) दास तथा मूर्तिमान अपदार्थ—वे गड्डालिका प्रवाह की भाँति कालको अनुकूल धारा में बह जाते हैं तथा अहंकार विचार की हत्या करते हैं एवम् सत्य और युक्ति के विरूद्ध प्रवल विद्वेष पोषण किया करते हैं।

१२. उनका तृतीय (तीसरा) अधिकार है सकल नियमों के ऊपर इस अधिकार के नियम को वे जानते ही नहीं और इसी से प्रकट होता है कि ये व्याख्याकारी (उनकी विपरीत बुद्धि, मूर्खता तथा अज्ञातवश तथा शास्त्र में

उनका अधिकार नहीं है जानकर ही वे आलोचना (विचार विमर्श) किया करते हैं। क्या इन व्याख्याकारियों के योग्यताके सम्बन्ध में इसके उपर भी किसी का सन्देह रह सकता है।

शास्त्र दुर्ज्ञेय हैं

१३. श्रीहरिकी निहेतुक कृपा व्यतीत शास्त्रज्ञान किसी प्रकार से नहीं होता— पुनः पुनः शास्त्र विविध ढंगसे यह कहते हैं—

अधीत्य चतुरो वेदान् दर्पापहतचेतनः।
ब्रह्मतत्वं न जानाति दर्वीपाकरसं यथा।।

रन्धनशालामें कल्छुल जिस प्रकार रसमें बूड़े (निमज्जित) रहने पर भी रसास्वादनमें असमर्थ है उसी प्रकार जो व्यक्ति अहङ्कार में डुबा है वह सकल शास्त्र अध्ययन करनेपर भी ब्रह्मतत्व नहीं जान सकता। जो अहङ्कारमें चूर है, दीनताके स्पर्श से जिसके हृदय की मलिनता विदूरित नहीं हो सकती। दीनता (दैन्य) एक ऐसी सामग्री है जिसके संस्पर्श में आकर हृदय स्वच्छ दर्पण स्वरूप बनता है एवं तभी सत्यका अपूर्व सून्दर प्रतिविम्ब उसपर प्रतिफलित होता है।

१४. अपरञ्च (पुनः)—

घनोयपदार्कप्रवोविदीर्यते चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा।
यदाह्यहंकार उपाधिरात्मनो जिज्ञासया नश्यति तहर्यनुस्मरेत्।।

सूर्य से ही बादलकी उत्पत्ति है एवं बादल सूर्यको आच्छादित (आवुत) करता है। जब पवन उस बादल को उड़ा ले जाता है— तभी चक्षु सूर्य का दर्शन (निरीक्षण) कर सकती है। जब प्रकृत ज्ञानपिपासा (लालसा) का तूफान इस अहंकार को उड़ा ले जाता है तभी संसारासक्त जीत अपने सृष्टिकर्ताके विषय में चिन्ता करने में समर्थ होता है।

१५. जिस प्रकार जल पहाड़ की शिखर (चोटी) अथवा शीर्ष स्थान पर एकत्रित नहीं हो सकता उसी प्रकार सत्य कदापि अहंकार द्वारा कलंकित हृदयमें प्रतिफलित नही हो पाता है। समग्र शास्त्र कराठस्य किये जाने पर

भी अज्ञानान्धकार विदूरित नहीं होता, ज्ञानार्जन के लिये तृष्णा प्रवल होनेपर सत्यानुसन्धानके लिये जब मन अस्थिर होता है, असत्य जब कानों में विषवत् बजता है—तभी अज्ञान रूपी अन्धकार दूरीभूत होता है। शास्त्रके कदर्थ अथवा नूतन व्याख्या देने के लिये जिनके प्राण अस्थिर हुआ करते हैं—क्या उन्होने कभी अपनी विद्याबुद्धिकी दौड़ वो भी विवेचना (सोच) कर देखा है? शास्त्र विपरीत व्याख्या देने के लिये जो व्यस्त हुए हैं—यद्यपि इस दुष्कर्म का दायित्व उन्हें किसी ने नहीं सौंपा है अपितु वे स्वयं इसे अपने मस्तक (माथे) पर लाद लिये हैं इस प्रकार के कार्य प्रारम्भ करनेके (कार्य में लिप्त होने के (पूर्व क्या वे एकबार भी विचार किये हैं कि किस सीमा तक वे अहंकार एवं सत्यद्वेष का त्याग करने में समर्थ हुए हैं।

१६. सृष्टिकर्ता ब्रह्मा स्वयं कहते हैं—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्।।

हे देव! तुम्हारे चरण कमलके लेशमात्र अनुग्रह जिसे प्राप्त हुआ है केवल वही तुम्हारे महिमा को जान सकता है नहीं तो अपर कोई व्यक्ति यत्नपूर्वक परिश्रम करते हुए प्रयत्न करनेपर भी तुम्हें नहीं जान सकता। गवच्चरणारविन्द की प्राप्ति में एकमात्र अन्तराय अहंकार है। दीनका के साथ सत्य के अनुसन्धान में जो तत्पर है एकमात्र वही श्रीभगवानकी महिमा हृदयङ्गम करते हुए सत्यके स्वरूपकी उपलब्धि कर सकते हैं। जब तक (रंचभर) विन्दु मात्र भी अहंकार विद्यमान है, जितना ही प्रयात क्यों न किया जाय सत्य तथा ज्ञानका सन्धान कदापि सम्भव नहीं है।

ब्रह्मा पुनः कहते हैं—

जानन्त एव जानन्तु कि वहूक्त्या न मे प्रभो।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तथा गोवरः।।

जो तुम्हें जानते हैं ऐसा प्रकट करते हैं वे ऐसा करें। मैं स्वयं तुम्हारी लीलाको कुछ भी नहीं समझा जो कि मेरे देह, मन तथा वाक्यके (से परे) है। हे प्रभो! मेरे अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन?

किन्तु ब्रह्माके सृष्ट ये व्याख्याकारी गण एक प्रकारके अद्भुत जीव हैं, जो अपने सृष्टिकर्ता को भी अधिक कर गये हैं उनसे भी आगे बढ़ गये हैं)। वचन सर्वस्व परन्तु कार्य में क्षुद्र इन अद्भुत जीवगणों को न भय ही है न तो लज्जा ही, अतः वे सर्वदा निःसन्दिग्ध, मूर्ख एवं अपवित्र हैं।

धर्म अज्ञेय है

१८. प्रकृत धर्म अर्थात् भागवत धर्म किसी से नहीं ज्ञात हो सकता। शास्त्र कहते हैं—

स्वम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारोः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलि वैयासकिर्वयम्।।
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः।
गुह्यं विशद्धं दुर्वोध्यं यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।।

यमराज अपने दूतों से कहते हैं—ब्रह्मा, नारद, शिवजी (महादेव), सनत् कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, शुकदेव तथा कर अन्धा हो गया हूं। वुटीर प्रत्यागमन करते समय कूपमें पतित हुआ हूँ। गुरूजीने कहा, तुम अश्विनी कुमारद्वथकी स्तुति करो, तब तुम्हें दृष्टिशक्ति पुनः प्राप्त होगी।

४२. कूपके तलदेशसे उपमन्यु अश्विनी कुमारद्वथकी अपनी दृष्टिशक्ति के पुनरूद्धारके लिये स्तुति करने लगे। देवताद्वय सन्तुष्ट हुए तथा उनके सामने उपस्थित होकर बोले ''हम तुम्हारे ऊपर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए हैं। तुम इस पेठेको खा जाओ—तुम्हारी दृष्टि शक्ति पुनः प्राप्त होगी।''

४३. परन्तु उपमन्युने हाथ जोड़कर निवेदन किया, ''हे प्रभू, आपका आदेश मैं कदापि अमान्य नहीं कर सकूंगा। परन्तु गुरूजी की अनुमति बिना मैं इस पेठे को न खा सकूंगा।'' तब अश्विनीकुमारद्वय बोले, ''तुम्हारे गु रूके स्तवसे सन्तुष्ट होकर उन्हें भी हम इस प्रकार पेठा भक्षण करने को दिये थे। वह भी अपने गुरूके बिना अनुमति के ही उसे भक्षण किये थे। तुम्हारे गु रुजीने जिस प्रकारका आचरण किया था तुम्हे भी उस प्रकार आचरण करनेमें कुचाना उचित नही है।

४४. किन्तु उपमन्यु ने तथापि पेठा भक्षण नहीं किया। उन्होंने कहा, ''आप कृपापूर्वक मुझे क्षमा करें। अपने गुरूजीके आदेश पाये बिना मैं कुछ भी नहीं ग्रहण कर सकता।'' देवतागण इसपर यतपरोनास्ति सन्तुष्ट हुए तथा बोले, तुम्हारी गुरूभक्ति अतुलनीय है। हम अत्यन्त सन्तुष्ट हुए हैं, हमारे आशीर्वाद (बर) से तुमने पुनः दृष्टिशक्ति लाभ किया तथा हमारी शुभेच्छा सदा तुम्हारे साथ रहेगी।

४५. इस प्रकार उपमन्यु दृष्टिशक्ति लाभकर कूपसे निर्गत हो गुरुके निकट गये तथा उन्हें साष्टांग प्रणाम कर सारी घटना आद्योपान्त कह सुनायी। बायु धौम्य समग्र विषय अवगत हो परम आह्लादेत हुए तथा बोले, ''वत्स, मैं तुम्हें पूर्ण हृदय से आशीर्वाद करता हूँ। आजसे सकल वेद तता शास्त्रमें तुम्हारा पूर्ण अधिकार हुआ। तुम्हारा विद्या तथा ज्ञानकी सीमा परिसीमा नहीं रहेगी।

४६. आधुनिक व्याख्याकारिओंके पर्वत प्रमाण (समान) अहंकार तथा (उपमन्युको गुरूजीके चरणोंमें शरणागति) दोनों के बीच कोई तुलन ही नहीं हो सकती। गुरूजी ने उसे अश्विनीकुमारद्वयकी स्तुति करनेका आदेश दिया जिससे उन्हें दृष्टिशक्ति पुनः प्राप्त हो, अर्थात् गुरूजी ने उन दोनों को शरण लेने का निर्देश दिया तथा उनका आदेश पालन करने के लिये कहा। परन्तु उपमन्यु ने गुरूजी के स्पष्ट आदेश न पाने तक अश्विनीकुमारद्वय का आदेश नहीं पालन किया तथा उनके प्रदत्त पेठा ग्रहण नहीं किया। उन्हीं गुरूजी का दृष्टान्त भी उसे तनिक भी विचलित नहीं कर पाया। उनकी गुरुभक्ति अचल अटल रही। फलस्वरूप हुआ क्या? आधुनिक व्याख्याकारिओं के मतानुसार गुरू तथा अश्विनीकुमारद्वय तीनों विशेष अपमानित हुए। किन्तु इस अपमान के फलस्वरूप तीनों परम सन्तुष्ट हुए तथा बिना पढ़े ही गुरूजी के आशीर्वाद से सकल शास्त्र में व्युत्पति लाभ किये तथा बिना किसी प्रयत्न किये ही वे सकल ज्ञान के अधीश्वर हुए।

दीनता ही पापव्याधि का एकमात्र औषध है

४७. दीनता ही ज्ञान का भित्ति स्वरूप है। दीनता ही प्रकृत ज्ञान एवं

प्रकृत ज्ञान ही दीनता है। जो दीनहीन है वही प्रकृत ज्ञानी है, साथ ही जो प्रकृत ज्ञानी है वह सर्वदा दीनहीन रहता है, दीनता के निम्नभूमि में ज्ञान बीज अंकुरित होता है—घमंड तथा अहंकार के उच्च-भूमि को यह यत्न के साथ परित्याग करता है। दीनता ज्ञान का बीज है, अहंकार अग्नि में वह भस्मीभूत हो जाता है। दीनता शिवसुन्दर है तथा सत्य ही उपासना करता है, और अहंकार वीभत्स एवं भयंकर मिथ्या का पुजारी है, दीनता मनुष्य की योग्यता तथा अयोग्यता का सन्धान रखता है, अहंकार उन्हें पददलित करते हुए बढ़ता है। अपने सम्बन्ध में वह अत्यधिक सचेतन है अतएव अपना कोई सन्धान ही नहीं रख सकता। जो दीनहीन है उन्हें ज्ञान है कि मनुष्य की बु द्धि विपरीत तथा उसकी युक्ति भ्रमात्मक है, परन्तु अहंकारी व्यक्ति को यह प्रारम्भिक ज्ञान भी नहीं है।

४८. पूर्णतया आत्मसमर्पण न करने पर शरणागति बिना कदापि कोई प्रकृत ज्ञान लाभ नही कर सकता। शास्त्र कहते हैं—

ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह
नारायणो नरसखः किल नारदाय।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां
पादारविन्द रजसाप्लुतदेहिनांस्यात्।।

परम पवित्र तथा असल ज्ञान एकदम अलभ्य है। मोक्षाभिलाषियों के परम बन्धु श्री भगवान नारायण अशेष कृपा कर, नारद को प्रदान किये थे। जिन्होने अहंकार त्याग किया है, जिनके इस संसार में श्रीभगवान के चरण कमल भिन्न और कुछ नहीं है—ये चरण ही जिनके सर्वस्व है— ऐसे पुरुष के चरणरज में आप्लुत (अभिषिक्त) होने पर ही वह ज्ञान लाभ हो सकता है। अहंकाररूपी वाधा के रहते हुए अथवा अपनी अकथ असहायता तथा भगवद् इच्छा पर ही सब कुछ निर्भर है, यह न जानने पर किसी भी उपाय द्वारा प्रकृत ज्ञान लाभ नहीं किया जा सकता।

४९. शास्त्र पुनः पुनः कहते हैं—

नैषां मतिस्तावदुरूक्रमांघ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमोयदथः।

महीयसां पादरजोभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्।।

श्री हरि के जो चरण सकल मंगलों के आकर तथा सकल अशुभों के निवारक है उसे संसारासक्त व्यक्तिगण स्पर्श तक नही कर सकते—जबतक न वे पूर्णतया दीनहीन-निष्किञ्चन हो जाय, जिन भक्तों का श्री हरि के श्री चरण के सिवाय और कुछ भी नहीं है—सवन्ति:करण से उन अकिञ्चन भक्त के पदरज में अपने को अभिषिक्त न किये हों।

५०. इसीलिये भरत ब्राह्मण होते हुए भी जड़वत आचरण करते थे तथा राजा रहुगण से कहते हैं—

रहुगणौतत् तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा।
नच्छन्दसा नव जलाग्निसूर्यै:
विना महत्पादरजोभिषेकम्।।

हे रहुगण के राजा! तप यज्ञ, वैराग्य वेदाध्ययत्, जल, अग्नि व सूर्य उपासना द्वारा प्रकृत ज्ञानार्जन (सम्भव) नहीं। जो अकिञ्चन है, संसार के सकल विषय को तुच्छ कर जिनके मुख से निरन्तर भगवद् गुणगान उच्छसित होता है—उन भक्तजनों के चरणरज में अभिषिक्त होने पर तभी ज्ञान लाभ होता है।

अहंकार ही एकमात्र पाप है

५१. अहंकार आत्मा का सर्वपेक्षा भयंकर विष है। यदि कोई पाप मनुष्य का अहंकार नाश करता हो, तो वह पाप ही परम पुण्य है, साथ ही यदि कोई पुण्य अहंकार को पुष्ट करता हो, तो वह पूण्य ही सर्वापेक्षा घृणित पाप है।

तवैतत् सुतुष्टते रनन्यन्निमित्तं।
तवेच्छा प्रतीज्ञा मनोधीशरीरा
तदेवैव धर्मं तदा वै हि वोध:।
तदेवैव भक्ति: तदा वैहि दास्यम्।।
अहंकारनिष्ठो विमोधो हि बोधो।

भवेत् सर्वधर्मो विमोघो विमोघः ।।

अहंकार निष्ठा विमोघा हि भक्तिः ।

अहंकार मुक्तो जनोवन्धमुक्तः ।।

देह मन तथा आत्मा सभी समर्पित कर तुम्हारे इच्छा की प्रतीक्षा करना ही तुम्हें सन्तुष्ट करने का एकमात्र उपाय है। यही एकमात्र धर्म है, एकमात्र ज्ञान है, एकमात्र भक्ति तथा एकमात्र दास्य है। अहंकारयुक्त होने पर सब कुछ व्यर्थ होता है, अहंकार के स्पर्श से ज्ञान विनष्ट होता है, धर्म व्यर्थ तथा भक्ति दूषित होती है।

शास्त्र में असंगति तथा उसकी व्याख्या

५२. गलित शवदेह अन्वेषणकारी गृध्र की भांति नियम निष्ठा के अनु सन्धान में रत शुकर के समान अहंकार दुष्ट आधुनिक व्याख्याकारीगण भी सदैव शास्त्र की कल्पित अथवा आपात असंगति के अनुसन्धान करने में व्यस्त है—

मक्षिका ब्रणमिच्छन्ति पुरीषमिव शूकरः ।

कृमिर्जीवति विष्ठायाम् दोषसम्भावनःाखलः ।।

इस स्सुमनोंहर देह में मक्षिका केवल ब्रण का अनुसन्धान (खोज) करती है। परम सुन्दर बगीचे में शूकर पुरूष-निष्ठा का अन्वेषण करता है। कृमि विष्ठा में ही बपुता है, मल ही में इसका जीवन है। उसी प्रकार खल व्यक्ति भी गुण में भी दोष निकालने में व्यस्त रहता है।

५३. तर्क के तौर पर यदि मान ही लिया जाय कि शास्त्र में असंगति है उससे भी क्या बनता बिगड़ता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैक्स प्लान्क ने भी जिस भाषा के अस्तित्व को स्वीकार किया है—आधुनिक शास्त्र व्याख्याकारिओं ने क्या आप का नाम भी नही सुना है।

सापवादा हि विधयः ।

अपवाद व्यतीत कोई विधि होगा ही नहीं ।

सामान्यविधिरनित्यत्वं नित्यमेव प्रतिष्ठितम् ।

ऐसा कोई सामान्य विधि नहीं है, जो सर्वत्र लागू हो सके इन प्रश्नों की अवतारणा से अभी विरत होना पड़ेगा क्योंकि उससे अनेक तथाकथित बोरों को हृत्‌कम्प उपस्थित होता है।

५४. शास्त्र जिस समय का सन्देश बहन करते हैं वह अनन्त है। अत: शास्त्र की बात छोड़ता हूँ। व्याकरण जिसके साथ अनन्त काल का कोई सम्बन्ध ही नही तथा मनुष्य जिसका विषय वस्तु भी नही है—वही व्याकरण बहु स्थल पर विप्रतिषेष तथा परस्पर विरूद्ध उक्तिओं से परिपूर्ण है—वास्तव में वे साधारण नियम के अपवाद मात्र हैं। ऐसे स्थल पर (इस अवस्था में व्याख्या का नियम है—

विप्रतिषेध परं कार्यम्।

असंगति स्थल अथवा परस्पर विरूद्ध उक्तिओं की व्याख्या करते समय जो अंश बाद में उल्लिखित है उसे ही यथार्थ समझना चाहिये।

५५. इस नियम के अनुसार वेद की अपेक्षा स्मृति तथा पुराण, अधिक जानना उचित है। इससे वेद तथा स्मृति-पुराण के बीच आपात दृष्टि से विरोध प्रतिभात होगा। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। कारण यह कि स्मृति तथा पुराण वेदों के ही व्याख्यामात्र हैं—वेद की असत्यता नहीं प्रमाणित करते हैं। शास्त्र कहते हैं—

पुराणमेकमेवासीत् शतकोटिप्रविस्तरम्।

कलिना गहनं हृष्ट्वा द्वापरे द्वापरे सदा।

चतुर्लक्षप्रमाणेन व्यासरूपधरो विभुः।

तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेस्मिन् प्रकाशते।।

प्रारम्भमें केवल एक पुराण था। उनमें १०० करोड़ श्लोक थे। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—इन चतुर्युगों में द्वापर के अन्तमें, कलि प्रारम्भ होने के अव्यवहित पूर्व श्रीभगवान व्यासरूप में अबतीर्ण हो इस पुराण में चतुर्लक्ष श्लोक संग्रह कर १८ पुराणों को प्रकाशित करते हैं।

५६. सत्य, त्रेता, द्वापर—युगों से परस्पर विरूद्ध दृष्टान्त उद्धृत कर

कलियुग में शास्त्र को नगराय प्रमाणित करने की चेष्टा नितान्त पाप एवं विपरीत बुद्धि प्रसूत है। कोई दृष्टान्त द्वारा एक साधारण नियम को कदापि खण्डन नहीं किया जा सकता। यथा विख्यात भक्त घाटम् चोर, डाकू एवं हत्याकारी थे, विल्वमङ्गल लम्पट तथा तुलसीदास जी अत्यन्त कामुक थे। किन्तु क्या इसी से प्रमाणित होगा कि डाकू खूनी तथा लम्पट न होने पर भक्त होना सम्भव नहीं।

५७. देवताओं के वाक्य सत्य हैं, परन्तु उनके आचरण प्राय: सत्य नहीं हैं, गुणी जन उनके वचनों का अनुसरण करते हैं—उनके आचरण का नहीं, और जितना अपने लिये प्रयोजन है केवल उतना ही ग्रहण करते हैं।

ईश्वरानां वचः सत्यं तथैबा चरितं क्वचित्।

तेषां यत् स्ववचोयुक्तम् बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्।।

असङ्गति प्रयोजनीय है।

५८. माया के प्रभाव से इस जगत में सब कुछ उल्टा सीधा है—अत: सृष्टि के इस वैषम्य के सहित सङ्गति रखने के लिये ही असङ्गति का प्रयोजन है।

शश्रृङ्गेन नागेन्द्रो मृतश्चेद् जगदस्ति तत्,

मृगतष्णाजलं पीत्वा तृप्तश्चेदरतीदं जगत।।

रज्जुसर्पेन दृष्टश्चेत् नरो भवति संसृतिः।

चित्रस्थदीपैस्तमसो नाशश्चेदस्तीदं जगत।।

अजकुक्षौ जगत्रास्ति ह्यात्मकुक्षौ जगन्नहि।

सर्वथा भेदकलनं द्वैनाद्वैतं न विद्यते।।

यदि वृहत्तम हाथी, खरगोश के सींग द्वारा निहत हो तो समझना होगा जगत का अस्तित्व है यदि महीचिका के पारदर्शी तथा शीतल जल पीकर तृष्णा दूर हो, तो समझना होगा जगत का अस्तित्व है, यदि रज्जुसर्प द्वारा मनुष्य दंशित हो, तो समझना होगा जगत् का अस्तित्व है। यदि चित्रस्य प्रदीप की रोशनी से अन्धकार बिदुरित हो तोभी समझना होगा जगत् का अस्तित्व है। किन्तु नहीं—जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है, ब्रह्मा के गर्भ में

नही, ब्रह्मकुक्षि में भी नहीं। वस्तुत: दोनों में कोई प्रभेद नही है। द्वैत तथा अद्वैतवाद इनमें से किसी का अस्तित्व नहीं है।

५९. यदि जगत का कोई अस्तित्व नही है, यदि ब्रह्मा तथा ब्रह्म का कोई अस्तित्व नहीं है, तब उपनिषद किस प्रकार अथवा क्यों उनके सम्बन्ध में इतना प्रकाश डालते हैं? उपनिषद् कहते हैं—

वाचा वदति यत् किञ्चित् सङ्कल्पैः कल्पते य यत्।

मनसा चिन्त्यतोऽध्यात्मशाश्त्राणाम् सर्वापन्हव एव हि।

नो विद्यास्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मोदमक्लमम्।।

सर्वोपनिषदां भावं सर्वं-शश-विषाणावत्।

सर्वोपनिषदां विद्यामभ्यसेत् मुक्तिहैतुकीम्।।

इस संसार में जो कुछ भी क्यों न कहा जाय, सिद्धान्त बनाया जाय—इतना भी क्या जो कुछ भी क्यों न सोचा जाय वह सदैव मिथ्या है। शास्त्र के सकल सिद्धान्त मिथ्या तथा भ्रमात्मक है। अविद्या अथवा अज्ञान का अस्तित्व नहीं है—माया, जिससे संसार की उत्पत्ति है—उसका भी अस्तित्व नहीं है। एकमात्र ईश्वर ही समग्र विश्व के अधीश्वर रूप में विराज रहे हैं। उपनिषद् समूह में जो कुछ कहा गया है वह सभी मिथ्या है। उपनिषद् जो कुछ शिक्षा देते हैं उन्हीं का अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

६०. उल्लिखित श्लोकावली से स्पष्ट है कि माया अथवा वैपरीत्य के दृष्टान्तों को प्रदर्शित करने में शास्त्र का अपार उल्लास है। जो कुछ भी कहा अथवा चिन्ता किया जाय सभी मिथ्या है, पूर्णतया मिथ्या है। अतएव दिनरात बिना किसी रूकावट के अविराम उपनिषद् का अभ्यास अवश्य कर्तव्य है, कारण यह कि मिथ्या ही मोक्षलाभ का उपाय है। इस जगत को कोई अस्तित्व नहीं है। बन्धन भी नहीं है, मुक्ति भी नहीं है। किन्तु जिन भगवान का अस्तित्व हो नहीं है उन्ही श्री भगवान में भक्ति ही ज्ञान का एकमात्र कारण है। यद्यपि वही ज्ञान सर्वैव मिथ्या है, कारण प्रकृत ज्ञान अनुभूति का विषय है।

६१. यहाँ अस्ति नास्ति का चरम दृष्टान्त दिया गया है। किन्तु पागल भिन्न और कोई इसे पागलपन ऐसा भ्रम नहीं कर सकता। जिसकी विन्दुमात्र भी बुद्धि है वही समझ सकता है कि किसी विशेष सूक्ष्म उद्देश्य की पूर्ति के लिये स्वेच्छापूर्वक इस प्रकार उल्टा-सीधा लिखा गया है। अब प्रश्न यह आता है कि वह सूक्ष्म उद्देश्य है क्या? प्रत्येक मनुष्य अपने अधिकार द्वारा सीमावद्ध है इसे स्पष्टत् स्पष्टतर रूपमें प्रदर्शित करने के लिये इच्छापूर्वक इस प्रकार उलटा सीधा कहा गया है। एक के लिये जो अधिकार है अपर के लिये प्राय: वह अनधिकार हुआ करता है।

६२. इसीलिये शास्त्र परस्पर विरूद्ध कहा करते हैं तथा दर्शाते हैं कि इस अरणुभ्यश्चर के मध्य में ज्ञानी व्यक्ति को किस प्रकार अपने मार्ग पर चलते रहना चाहिये।

अणुभ्यश्च महदभ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।

सर्वतः सारमादद्याद् पुष्पेभ्यःइव षट्पदः।।

जो व्यक्ति अपना वास्तविक कल्याण चाहता है उसे, भ्रमर जिस प्रकार पुष्पों से मधु संग्रह करता है उसी प्रकार क्षुद्र अथवा वृहत् शास्त्रों से भी— उसके लिये जितना आवश्यक है केवल उतना ही ग्रहण करना चाहिये। या जो व्यक्ति अपना वास्तविक कल्याण चाहता है उसे शास्त्रों से तथा छोटे बड़े सकल वस्तुओं से वही ग्रहण करना चाहिये जिसका उसे वास्तविक प्रयोजन हो तथा उसके लिये यथार्थ हितकर हो, जिस प्रकार एक मधुमक्खी पुष्पों से केवल मधु सञ्चय करती है।

६३. किन्तु यह किस प्रकार सम्भव है। इसका उत्तर सहज नहीं। जब दक्ष के १०,००० पुत्र सृष्टि शक्ति लाभ के निमित्त कठोर तपस्या करने के लिये गये, नारद जी बोले, ''अरे मूर्ख क्या तुम ने भी ऐसा देश अथवा राष्ट्र देखा है, जो सदा केवल एक ही पुरूष के अधीन है, क्या तुमने कभी अतलस्र्शी विवर जिसका अन्न किसी ने नहीं देखा, बहुरूपीगण स्त्री अथवा वेश्या का पति देखा है?

तथैकपुरुषं राष्ट्रं विलं चाद्दष्ट निर्गमम्।

वहूँरूपां स्त्रियं चापि पुमांसं पुंश्चलीपतिम्।।

६४. देवर्षि नारद जी चले गये, दक्ष के पुत्रगण उनके इन जटिलतापूर्ण कथन पर पुन: पुन: चिन्ता करने लगे तथा उन्होंने यह स्पष्ट समझा।

नानारूपात्मनोबुद्धिः स्वैरिणीव गुणान्विता।

तन्निष्ठामगतस्येह किमसत् कर्मभिभवेत्।।

मनुष्यकी बुद्धि स्वभावत: बिभिन्न रूप धारण करती है तथा वेशयाकी भाँति कदापि एकनिष्ठ नहीं है। चञ्चल भ्रमरवत् सदा एक विषय से अपर विषय में भ्रमण करती फिरती है। जब तक न इस पिच्छिल तथा चंचल बुद्धि को अपने वश में लाया जाय—कर्म से क्या लाभ होगा?

६५. जो शास्त्रार्थ परम ज्ञानी भी कहने में असमर्थ है जो केवलमात्र श्री भगवान की निर्हेतुक कृपा व्यतीत नहीं जाना जा सकता, वह मनुष्य की सामान्य स्वैरिणी बुद्धि से किस प्रकार वोधगम्य होगा? वारवनिता जिस प्रकार बहुत को भजती है अथवा उसका अस्तित्व में ही अनुराग है, मनुष्य बुद्धि भी उसी प्रकार मिथ्या से मिथ्यान्तर में भटकती है तथा सत्य का आश्रय ग्रहण करने से विमुख है।

६६. मनुष्य का मोह किसी प्रकार भी विनष्ट नहीं होता तथा इस मोह के प्रभाव से वह न्याय को अन्याय तथा अन्याय को न्याय समझता है एवं इसी के फलस्वरूप संसार की उत्पत्ति है। इसी के फलस्वरूप जीव को इस संसार में आना पड़ा है। अनेक जन्मान्तरों के पश्चात् सतसंग के फलस्वरूप मोह को जीता जा सकता है। शास्त्र कहते हैं—

भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन।

सत् सङ्गमंच लभते पुरुषो यदा वै।

अज्ञान हेतु कृत मोह मदान्धकार-

नाशं बिधाय च ततोदयते विवेकः।।

अनेक जन्मोंके सुकृतके फलस्वरूप मनुष्यके भाग्योदय होने पर तभी श्री

भगवान अशेष कृपा कर उसे सत्संग दान करते हैं। तभी मनुष्य की अज्ञानता का जनक मोह तथा अहंकार विनष्ट होता है, तभी अज्ञान्धकार विदूरित हो विवेक-रश्मि दृष्य होता है।

।। उपसंहार ।।

वस्तुतः शास्त्र व्याख्या करने का उद्योग करने के समान निर्वुद्धिता और कुछ नहीं हो सकता। मनुष्य जब अपने अधिकार की बात विस्मृत होता है। जब मनुष्य अहंकार मूर्खता तथा पाप के शृङ्खल में बंधा है—यह भूल जाता है, जब मनुष्य की स्वैरिणी बुद्धि सत्य को त्याग कर मिथ्या की उपासना करती है तथा अधिकार भेद होने पर शास्त्र एक ही विषय पर एकाधिक मत दिया करते हैं— उसका स्वरूप नहीं समझते तबी पापिष्ठ व्याख्याकारीगण शास्त्र का कदर्थ करने के लिये तथा अपना दुरभिसन्धि बाधन के निमित्त इन आपात-असंगत दृष्टान्त खोज निकालते हैं। शास्त्र श्री भगवान के निहेतुक कृपा व्यतीत मनुष्य बुद्धि द्वारा बोधगमन्य नहीं हो सकता— यह वे किसी प्रकार भी स्मरण रखने में असमर्थ हैं। यह भी वे कभी स्मरण नहीं रखते कि दीनहीन न होने पर भगवत्कृपा लाभ नहीं की जा सकती।

—०—०—०—

शास्त्रधर्मप्रचार सभा ९१ चौरंगी कलकत्ता से निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हैं जो विनामूल्य बाँटी जाती है।
डाक से मंगाने पर महसूल आगे भेजना चाहिये।

हिन्दी व बंगला

१ हिन्दूधर्म व परिशिष्ट
२ जातिभेद
३ गांधीजी के नाम खुली चिट्ठी
४ बाल्यविवाह

बंगला

* १ शास्त्र मानिव केन?
२ संस्कार काहाके बले
३ बंगीय प्रादेशिक सनातन सम्मेलन
४ शास्त्रार्थ

ENGLISH

1. Reason Science & Shastras Pamphlets
2 Cast System
3 Intercaste Marriage Bill
4 Sanskrit Animus Begotten of sin
5 Ramkrishna Distortion Centenary
6 Infant Mortality
7 Ayurveda vindicated
8 Early Marriage
9 Misdeeds of Mayabi Gandhi
10 Inter Caste Marriage Bill
11 Interpretation of Shastras
12 Second Bengal Sanatan Sammelan

Letters

13 Letter to Gandhi (Open)
14 To Manchester Guardian and Miss Rathbone

PERIODICALS

TRUTH (weekly) Rs. 3/12.

भारताजिर (साप्ताहिक) मूल्य २ रूपया

---

* ये दोनों पुस्तके कठिन है और कम है। अतएव विशेष लोगों को दी जाती है।

शाहाबाद प्रेस महादेवा अथ आरा।